ग़ज़लकार

ग़ज़ल की छमाही पत्रिका

वर्ष : 01, अंक : 01 जनवरी-जून 2014

सम्पादक

दीपक रूहानी

यथासम्भव

साहित्य, संस्कृति और कला की संस्था

फ़ेहरिस्त

सम्पादकीय

कुछ लोग ताज़ा-ताज़ा बयाबाँ में आये हैं *

पहले सोचा था कि बहुत बड़ा-सा सम्पादकीय लिखा जाय। सोचा उसमें फ़लाँ बात लिखी जाय, अमुक विषय की दिशा में भी संकेत हो, फ़लाँ बात की तरफ़ भी कुछ इशारा हो; ग़रज़ कि दुनिया भर की बातें हों। फिर इरादा बदल दिया। इरादा बदल दिया तो उन बातों में से बहुत-सी बातें बेमानी लगने लगीं। दिल ने कहा कि जैसे शेर के दो मिस्रों में कहनेवाले बहुत-कुछ कह देते हैं, उसी तरह अल्फ़ाज़ की कमख़र्ची से काम लिया जाय। कुछ बातें जो व्यक्तिगत और औपचारिक स्तर पर भी ज़रूरी लगीं उनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

पहली बात, जो लोग ग़ज़लकार के इस पहले अंक के प्रकाशन से शुरू से जुड़े हैं, वो जानते हैं कि जब इसकी घोषणा हुई थी, तब से अब तक काफ़ी अर्सा गुज़र गया। इसके कई कारण थे जिसकी तफ़्सील में जाना मुनासिब नहीं, लेकिन इतना अवश्य था कि घोषणा से लेकर प्रकाशित होने तक का वक़्त मेरे लिए काफ़ी सब्रआज़्मा रहा। जिन लोगों ने यक़ीन के साथ आख़िर तक साथ दिया मैं उनका अतिरिक्त शुक्रगुज़ार हूँ।

दूसरी बात, ये पत्रिका ख़ास तौर से ग़ज़ल के फ़राइज़ अंजाम देने के लिए प्रकाशित की जा रही है। हिन्दी-साहित्य की कई महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं में ग़ज़ल और शायरों पर अक्सर उच्चकोटि के लेख, अनुवाद, लिप्यन्तरण आदि देखने को मिल जाते हैं, लेकिन पूरी तरह का समर्पण नहीं दिखायी देता। उम्मीद है ये पत्रिका इन उद्देश्यों की पूर्ति करेगी।

तीसरी बात, लेखों में किसी हद तक अरबी-फ़ार्सी के कठिन शब्दों का अनुवाद कर दिया गया है, लेकिन ग़ज़लों के शब्दों का अर्थ यानी फुटनोट नहीं दिया गया है; इसका भी कारण है। शब्दों की वर्तनी को स्थिर रखने का यथासम्भव प्रयास किया गया है, अगर किसी शब्द की वर्तनी दो प्रकार से है या दो प्रकार से प्रचलित है तो दोनों को सही मान लिया गया है। पूरी कोशिश की गयी है कि कहीं कोई त्रुटि न रहने पाये, फिर भी अगर कहीं कोई नुक़्स हो तो आपसे गुज़ारिश है कि अवगत करायें।

चौथी बात, रचनाओं तथा रचनाकारों के सम्बन्ध में यथास्थान छोटी-छोटी टिप्पणी लगा दी गयी हैं, इसलिए यहाँ उनके बारे में विस्तार से कुछ नहीं कहा जा रहा है। किसी भी शायर का प्रस्तुतीकरण या उसके प्रस्तुतीकरण का मूल्यांकन दो-चार ग़ज़लों के आधार पर

नहीं हो सकता। इसीलिए 'ग़ज़लकार' में मात्र दो शायरों की अधिक-से-अधिक ग़ज़लें दी जा रही हैं।

पाँचवीं और अन्तिम बात ये कि कोई पत्रिका या जर्नल का प्रकाशन काफ़ी मुश्किल और पेचीदा काम है। ये बयाबान में सफ़र करने जैसा है, लेकिन कुछ दोस्तों के साथ ने इस सफ़र को बहुत आसान बना दिया है। 'यथासम्भव साहित्यिक न्यास' से जुड़े मेरे अज़ीज़म दोस्त सुनील तिवारी, वहीद रहमान अंसारी, आलोक मिश्रा, कुमार अतुल और महफ़ूज़ रहमान शानू जैसे लोगों का साथ हौसला देता रहा है। बीच-बीच में फ़िराक़ साहब का ये शेर भी हौसला देता रहा, कि—

अभी तो कुछ ख़लिश-सी हो रही है चन्द काँटों से
इन्हीं तल्वों में इक दिन जज़्ब कर लूँगा बयाबाँ को

उम्मीद है 'ग़ज़लकार' निकालने का प्रयास ज़ाया नहीं जायेगा। अगर पत्रिका के बारे में आप अपनी मौखिक या लिखित राय और मश्विरा देंगे तो हमें हौसला और मार्गदर्शन मिलेगा।

दीपक रूहानी

---

* **अय मौजे-गुल इधर का अभी रुख़ न कीजियो**
कुछ लोग ताज़ा-ताज़ा बयाबाँ में आये हैं - नाज़िश प्रतापगढ़ी

शाहिद जमाल
1379, हसनू कटरा,
फ़ैज़ाबाद (उ. प्र.),
मोबाइल : 9451968156

यूँ तो रोज़ी-रोटी के सिल्सिले में शाहिद भाई प्राइमरी में मास्टर हैं, लेकिन शेर ऐसे कहते हैं कि यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर तक दाद दें। सन् 1963 ई. में शाहिद भाई का जन्म सुल्तानपुर ज़िले के दोस्तपुर नामक स्थान पर हुआ, लेकिन स्थायी निवासी फ़ैज़ाबाद के बन चुके हैं। 35 साल से जिस मकान में किरायेदार थे, उसे अब्बू (मास्टर अब्दुल क़ुद्दूस साहब) ने ख़रीद लिया है।

उर्दू से एम.ए. करने में गोल्ड मेडल हासिल किया। अपनी शरीके-हयात शाहीन भाभी का इलाज कराने मुम्बई गये तो फुटपाथ तक पे सो के रातें काटी; और इस बात को कहने-बताने में शर्माते भी नहीं। शायद यही वजह है कि इनकी शायरी में बनावटीपन नहीं है। मुशायरों में ज़रा कम ही जाते हैं, क्योंकि वहाँ न ये किसी से सन्तुष्ट हो पाते हैं और न ही किसी को जल्दी सन्तुष्ट कर ही पाते हैं। शाहिद भाई की शायरी के मज़्मून नये हैं और इनके बयान में भी जिद्दतराज़ी है। शब्द पुराने हैं, लेकिन अर्थ नये हैं। इनकी शायरी में व्यक्तिगत स्तर के टूटने-बिखरने का दर्द अधिक है। ये समाज, परिवार और देश-दुनिया का ज़िक्र उतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझते जितना कि अपना, यानी एक आदमी का ज़िक्र ज़रूरी समझते हैं। यही कारण है कि इनकी ग़ज़लों में नारेबाज़ी और शोरगुल बिल्कुल नहीं है।

इन्होंने जो महसूस किया है, वही लिखा है। इनकी शायरी में जो जद्दोजहद है, वो झूठी नहीं है। यूँ तो बहुत पत्रिकाओं में, अख़बारों में शाहिद भाई की गज़लें बारहा प्रकाशित होती रहती हैं, लेकिन अभी तक कोई भी मज्मूआ-ए-कलाम प्रकाशित नहीं हो पाया है। पहली बार एक साथ इनकी इतनी ग़ज़लें कहीं प्रकाशित हो रही हैं। भविष्य में इस पत्रिका को किस तरह की ग़ज़लों के फ़रोग़ की चिन्ता रहेगी, शाहिद भाई की ग़ज़लें उसका उत्कृष्ट नमूना हैं।

शाहिद जमाल

दरिया–दरिया कूज़ा–कूज़ा तू ही तू

दरिया–दरिया कूज़ा–कूज़ा तू ही तू
आँखें हों तो क़तरा–क़तरा तू ही तू

नहरें, नदियाँ, सागर, झरने और तालाब
है सबका बस एक वज़ीफ़ा तू ही तू

चीख़ रहे हैं इन्द्रधनुष के सारे रंग
लाल, हरा या पीला–नीला तू ही तू

जब से कर दी सारी समाअत तेरे नाम
मुझ को सुनायी दे हर लम्हा तू ही तू

मेरे किसी भी ख़्वाब को जब ताबीर मिली
मेरी इन आँखों से बरसा तू ही तू

नन्हें–नन्हें बच्चों को क्या दर्स दूँ मैं
मेरे लिए तो चेहरा–चेहरा तू ही तू

मैं ही मैं की फ़िक्र से हो जाता आज़ाद
काश कि मुझ में ज़म ही जाता तू ही तू

× × × × × ×

देखकर सारी शख़्सीयात को चुप
हम भी रखते हैं अपनी ज़ात को चुप

ऐसा इकदम से उठ गये कुछ लोग
लग गयी सारी कायनात को चुप

आप पत्थर हैं और मैं आईना
क्यों न भाये मेरी हयात को चुप

ग़ुफ़्तगू होगी शोर में तब्दील
जब करायेगी बात, बात को चुप

दिल में जो कुछ है आओ कह डालें
खा न जाये तअल्लुक़ात को चुप

दिन को बख़्शे हैं जिसने हंगामे
वो ही रखता है कैसे रात को चुप

× × × × × ×

दामन पे सितारों की जगह अश्क जड़े हैं
हम ख़ुद को लिये जैसे नुमाइश में खड़े हैं

सच्चाई को सच्चाई करें किस तरह तस्लीम
वो सब जो किसी झूठ पे सदियों से अड़े हैं

हमसे है बड़ा कौन ये रखते हैं सदा याद
ये याद नहीं रखते कि हम किससे बड़े हैं

जाऊँगा कहाँ मैं कि मेरे आबाओ-अज़्दाद
सदियों से इसी मुल्क की मिट्टी में गड़े हैं

बस यूँ ही मयस्सर नहीं आती कोई मंज़िल
दौराने-सफ़र पाँव में छाले भी पड़े हैं

हमने कभी अहबाब से ठानी है कहाँ जंग
हम जब भी लड़े हैं किसी दुश्मन से लड़े हैं
× × × × × ×

मैं सलामत, मेरा आँगन भी, शजर भी मेरा
आँधियों देख लो आकर कभी घर भी मेरा

कोई मौसम हो यहीं आके मिली मुझको पनाह
है मेरी ज़ीस्त का हिस्सा ये खँडर भी मेरा

ये अलग बात कि पर तोल रहा हूँ मैं अभी
ऐ हवा! देख ले तू अज़्मे-सफ़र भी मेरा

क्या सबब है कि फ़क़त ऐब पे जाती है निगाह
आइना है तो कभी देख हुनर भी मेरा

क्यूँ हों मम्नून फ़क़त काग़ज़ी शह्‌रीयत पर
शह्‌र मेरा है तो हो शह्‌र में घर भी मेरा

ज़ुल्म करना तेरा शेवा है तो मायूस न हो
तेरे नेज़े पे कभी आयेगा सर भी मेरा
× × × × × ×

जो भी मिलता है उसी को पूजने लगता हूँ मैं
क्या करूँ मज्बूरियाँ हैं, गाँव से आया हूँ मैं

साँस तक लेना भी है दुश्वार जब इस शह्‌र में
ज़िन्दगी तुझ पर मेरा एहसान कि ज़िन्दा हूँ मैं

कल भी एहसासात के शोलों पे था मेरा वजूद
आज भी हर लम्हा सोने की तरह तपता हूँ मैं

मुझसे ही क़ायम है अब तक तेरा तहज़ीबी वक़ार
तोड़ मत मुझको कि घर का सद्र दरवाज़ा हूँ मैं

मैं तेरे साहिल पे आया हूँ कि देखूँ तेरा ज़र्फ़
ऐ समन्दर तुझसे किसने कह दिया प्यासा हूँ मैं

मैं बज़िद हूँ इस पे कि सब मुझको समझें आइना
जबकि आईना बख़ूबी जानता है क्या हूँ मैं

× × × × × ×

कोई सदा दे न साहिल से अब पुकारे मुझे
मैं जानता हूँ कि लगना है किस किनारे मुझे

ये सोचकर अभी दरिया की तह में बैठा हूँ
कि जिसने मुझको डुबोया है ख़ुद उबारे मुझे

वो संग है तो फिर आकर बिखेर दे मुझको
जो आईना है तो आकर कभी सँवारे मुझे

मेरे वजूद से मंसूब है जो सबकी अना
तो जीतकर कोई ले जाये और न हारे मुझे

हर इक महाज़ पे हाज़िर रहूँगा मैं भी मगर
है शर्त इतनी कि मिलते रहें इशारे मुझे

न मिलके आँख-मिचौली मैं खेल पाऊँ मगर
हैं कम अज़ीज़ नहीं मेरे चाँद-तारे मुझे

× × × × × ×

क़दम-क़दम पे मसाइल के पर कतरता हुआ
मैं लम्हा-लम्हा यहाँ जी रहा हूँ मरता हुआ

मैं सारे आइने झुँझला के तोड़ता न कभी
मुझे दिखायी जो देता कोई सँवरता हुआ

कोई उड़ाये न यूँ मेरे डूबने का मज़ाक़
नज़र मैं आऊँगा कल सुबह फिर उबरता हुआ

फ़क़त निगाह का धोखा समझ के टाल दें आप
ज़मीं पे देखें अगर आसमाँ उतरता हुआ

किसी के दिल में कभी झाँककर तो देखे कोई
हर आदमी है यहाँ टूटता-बिखरता हुआ

वो अपना हाल तुझे क्या बताये हाकिमे-शह्र
जो पेश होता हो तेरे हुज़ूर डरता हुआ

× × × × × ×

सच्चाई का बचपन से परस्तार हूँ मैं भी
शायद किसी अफ़्साने का किरदार हूँ मैं भी

यूँ देखो तो इक लम्हे की फ़ुर्सत नहीं मुझको
लेकिन ये हक़ीक़त है कि बेकार हूँ मैं भी

कुछ सोच के कर लेता हूँ हालात से बैअत
वर्ना यहाँ ख़ुदसोज़ी का हक़दार हूँ मैं भी

इक तू ही नहीं अपने उसूलों का परस्तार
ख़ुद अपने लिए चीन की दीवार हूँ मैं भी

किस बात पे बख़्शी है मुझे यारों ने इज़्ज़त
इतना तो बहरहाल समझदार हूँ मैं भी

× × × × × ×

बताकर, 'क्या है इस्तेहसाल' मुझको
न कर पाओगे इस्तेमाल मुझको

मैं घरदारी को नेमत जानता हूँ
ये दुनिया क्यों लगे जंजाल मुझको

ये कहते-कहते आ पहुँचा दिसम्बर
कि लानी है तुम्हारी शाल मुझको

जो बस बाहर-ही-बाहर देखता है
समझता है बहुत ख़ुशहाल मुझको

मुझे ये फ़िक्र खाये जा रही है
न ले डूबें मेरे आमाल मुझको

कहीं परवाज़ रुकती ही नहीं है
पसन्द आयें न क्यूँ 'इक़्बाल' मुझको

× × × × × ×

बरसाते हैं आईनों पे क्या शान से पत्थर
क्यूँ लोग हुए जाते हैं इंसान से पत्थर

होंठों से अदा कीजिए कुछ इस तरह अल्फ़ाज़
टकरायें न आ-आ के मेरे कान से पत्थर

सर अपना पटख़ना है तो सर अपना पटख़िए
डरते हैं कहाँ नफ़्अ-ओ-नुक़्सान से पत्थर

आईने मयस्सर ही कहाँ होते हमें आज
देखे न गये होते अगर ध्यान से पत्थर

बेदाग़ अगर अब भी है पेशानी हमारी
बाहर हैं कहाँ आपके इम्कान से पत्थर

मिल जाये मुक़द्दर से तो आँखों में बसा लूँ
रखता है वो रिश्ता मेरे ईमान से पत्थर

× × × × × ×

घर हो या बाहर, वही कड़वी-कसैली गुफ़्तगू
कब तलक सुनते रहें हम एक जैसी गुफ़्तगू

चन्द लम्हों में भटक जायें जो मौज़ूआत से
बेसबब क्यूँ करते रहते हैं वो इल्मी गुफ़्तगू

इक तरफ़ लहजे में हल्की-सी नदामत भी नहीं
इक तरफ़ हम भूल जायें पिछली सारी गुफ़्तगू

पल में रत्ती, पल में माशा, पल में राई का पहाड़
पक चुके हैं कान सुन-सुनकर सियासी गुफ़्तगू

घर किये बैठा है दिल में आज तक इक-एक लफ़्ज़
क्या मुसीबत बन गयी दो-चार पल की गुफ़्तगू

अच्छे-ख़ासे लोग उठ जाते हैं महफ़िल छोड़कर
जब कभी होती है हम लोगों में अदबी गुफ़्तगू

× × × × × ×

तूने बख़्शे हैं जो आज़ार कहाँ रक्खूँगा
अब ये टूटे हुए मीनार कहाँ रक्खूँगा

सर उठाने की सकत छीननेवाले मुझसे
अब जो देगा कभी दस्तार कहाँ रक्खूँगा

मेरा घर है कि किताबों से भरे हैं कमरे
सोच! इसमें भला हथियार कहाँ रक्खूँगा

जब सियाही की जगह ख़ून उगलते हों क़लम
फिर ये तह्रीरों के अम्बार कहाँ रक्खूँगा

अपने बच्चों से हर इक ज़ुल्म छुपा लूँगा मगर
छः दिसम्बर! तेरे अख़बार कहाँ रक्खूँगा

तूने जब तोड़ लिए सारे ही रिश्ते मुझसे
मैं भी अब तुझसे सरोकार कहाँ रक्खूँगा

× × × × × ×

साँचे में किसी और के ढलने का नहीं मैं
अब अपना लबो-लहजा बदलने का नहीं मैं

इस दर्जा भी अच्छी नहीं एहसास की शिद्दत
रोज़ अपने ही अंगारों में जलने का नहीं मैं

हर शै के उबलने की जो इक हद है मुक़र्रर
उस हद से ज़ियादा तो उबलने का नहीं मैं

जब छीन लिया वक़्त ने मुझ से मेरा बचपन
कैसे भी खिलौने हों मचलने का नहीं मैं

अच्छा ही हुआ मोम से मैं हो गया पत्थर
सूरज भी हो सर पर तो पिघलने का नहीं मैं

इस मुल्क में हो लाख कोई मेरा मुख़ालिफ़
औरों की तरह ज़हर उगलने का नहीं मैं

× × × × × ×

चेहरे पे सजाकर कई चेहरों की परत लोग
कहलाते हैं इस दौर में आईना-सिफ़त लोग

क्या वक़्त है पैरों तले आ जाती है दस्तार
और सोचते रहते हैं फ़क़त सर की बचत लोग

बारिश भी पहनने लगी जब से नये मफ़्हूम
आँखों में लिये फिरते हैं बरसात की छत लोग

हम ज़ुल्म के हामी हैं न ज़ालिम के तरफ़दार
क्यूँ हमको दिखाते हैं यहाँ अपनी सकत लोग

वो वक़्त भी कुछ दूर नहीं है कि ज़बाँ पर
आयेगा कोई लफ़्ज़ तो ढूँढ़ेंगे लुग़त लोग

× × × × × ×

कहीं का ग़ुस्सा, कहीं का घुटन उतारते हैं
ग़ुरूर ये है कि काग़ज़ पे फ़न उतारते हैं

सुनी है टूटते पत्तों की हमने सरगोशी
ये पेड़-पौधे भी क्या पैरहन उतारते हैं

सियासी लोगों से उम्मीद कैसी ख़ाके-वतन
वतन का क़र्ज़ कहीं राहज़न उतारते हैं

ज़मीं पे रख दें अगर आप अपनी शम्शीरें
तो हम भी अपने सरों से कफ़न उतारते हैं

उतर के रूह की गहराइयों में हम हर रोज़
ख़ुद अपनी क़ब्र में अपना बदन उतारते हैं

ख़ुदा करे कि सलामत रहें ये बूढ़े शजर
कि हम परिन्दे यहीं पर थकन उतारते हैं

× × × × × ×

कैसे तोड़ी गयी ये हद्दे-अदब पूछते हैं
फूल शाख़ों से लचकने का सबब पूछते हैं

शाख़ जिस शाख़ से टकरायी है झूम उट्ठी है
पेड़ आपस में कहाँ नामो-नसब पूछते हैं

कोई अन्दाज़ा करे चाँद की बेचैनी का
जब सितारे कभी सूरज का लक़ब पूछते हैं

आँख जैसे ही झपकती है, हमेशा कुछ ख़्वाब
'कितने दिन बाद मयस्सर हुई शब' पूछते हैं

गुनगुनाते हुए मासूम-से झरने 'शाहिद'
क्यूँ है दरियाओं में ही क़हरो-ग़ज़ब पूछते हैं

× × × × × ×

सानेहा भी, हादिसा भी ज़िन्दगी
ज़िन्दगी का हौसला भी ज़िन्दगी

ज़िन्दगी की सारी परतें खोलकर
देख! है क्या फ़ल्सफ़ा भी ज़िन्दगी

ज़िन्दगी दिन भर कड़ी मेह्नत का नाम
रात भर का रतजगा भी ज़िन्दगी

फूल पर ठहरी हुई शबनम भी है
धूप का इक सिल्सिला भी ज़िन्दगी

ख़ुद ही करवाती है आये दिन गुनाह
ख़ुद ही देती है सज़ा भी ज़िन्दगी

कैसे-कैसे पत्थरों के दौर में
बनके उभरी आईना भी ज़िन्दगी

चाँद-तारों के नुमाइन्दा भी हम ही होंगे
हर सियह दौर में ताबिन्दा भी हम ही होंगे

हम ही काँधों पे उठायेंगे ख़ुद अपनी लाशें
और बस्ती में फ़क़त ज़िन्दा भी हम ही होंगे

आग बरसायेगा हम सबके सरों पर सूरज
और सहराओं के बाशिन्दा भी हम ही होंगे

हम ही काग़ज़ पे बिछायेंगे सुनहरे अल्फ़ाज़
अपनी तह्‌रीरों से शर्मिन्दा भी हम ही होंगे

हम ही दुनिया की निगाहों के रहे हैं मर्कज़
और दावा है कि आइन्दा भी हम ही होंगे

× × × × × ×

चाँटा! और वो भी फूल-से बच्चे के गाल पर
मैं थूकता हूँ आपके जाहो-जलाल पर

किस वक़्त तुमको छोड़ के बढ़जायें क्या पता
इतना गुरूर करते हो क्यूँ माहो-साल पर

माज़ी भी बेवफ़ा था उसी दोस्त की तरह
जो छोड़कर गया है मुझे मेरे हाल पर

अय आइनो! मुझे भी बताओ कि इस तरह
क्यूँ हँस रहे हो आज मेरे ख़द्दो-ख़ाल पर

पूछा था ज़िन्दगी है भला किस बला का नाम
दुनिया तड़प के रह गयी मेरे सवाल पर

× × × × × ×

ज़हने-ख़ुद्दार से आँखों ने ये साज़िश की है
उसके रुख़्सार पे कुछ पढ़ने की कोशिश की है

हमने आँसू भी बहाये हैं तो उसकी ख़ातिर
जिसने हर मोड़ पे अश्कों की नुमाइश की है

फिर से उस शख़्स को किस तरह पलटकर देखूँ
मैंने मज़्बूत इरादों की परस्तिश की है

सबने इस शह्‌र में समझा है मसीहा जिसको
उसने ही सर पे मेरे नेज़ों की बारिश की है

क्या कहें क्यूँ मेरे अहबाब ने मुझ पर 'शाहिद'
इस क़दर रहमो-करम और नवाज़िश की है

× × × × × ×

फ़रेब देगी इक-इक आस्तीन याद रहे
यहाँ न करिए किसी का यक़ीन याद रहे

जो रोज़ी-रोटी के सौ मस्अलों में उलझा हो
उसे कहाँ से कोई नाज़नीन याद रहे

किसी के धर्म पे उँगली न उठ सकेगी कभी
अगर हमेशा हमें अपना दीन याद रहे

भुला दिये सभी मख़्मल पे सोनेवाले मगर
हमें तमाम चटाईनशीन याद रहे

उड़ान भर तो रहा हूँ मैं आस्माँ की तरफ़
मेरे ख़ुदा! मुझे मेरी ज़मीन याद रहे

× × × × × ×

सुनाके जादुई अफ़्साने बदहवास भी कर
मगर ज़मीं के हक़ाइक़ से रूशनास भी कर

ये क्या कि सिर्फ़ हमें हुक्म देता रहता है
अमीरे-शह्र कभी हम से इल्तिमास भी कर

जिसे तू वक़्त के अन्धे कुएँ में छोड़ गया
वो मर गया कि है ज़िन्दा कभी क़यास भी कर

कभी मैं तुझको पहनकर जहाँ को दिखलाऊँ
कभी तू अपने बदन का मुझे लिबास भी कर

अगर किया है कभी तूने क़हक़हों में शरीक
तो अपने अश्क पिलाकर मुझे उदास भी कर

× × × × × ×

कैसे रक्खे कोई ग़ज़लों का भरम काग़ज़ पर
मर्सिये लिख दिया करता है क़लम, काग़ज़ पर

अपना ये अज़्म कि ज़िन्दा रहें तह्रीरों में
सब को ये ख़ौफ़ कि आ जायें न हम काग़ज़ पर

शेरगोई भी है क्या फ़न, कि इसी फ़न के तुफ़ैल
लोग अफ़्साने भी लिख जाते हैं कम काग़ज़ पर

दे के सफ़्हात को बेरब्त लकीरों का हुजूम
ढाते रहते हैं बहुत लोग सितम काग़ज़ पर

सर उठा ही नहीं सकती कोई बेजा ख़्वाहिश
इक्तिफ़ा कर लें अगर आप क़लम-काग़ज़ पर

अहदे-हाज़िर का मुअर्रिख़ जो उठायेगा क़लम
ख़ुश्क तह्रीरें लिखी जायेंगी नम काग़ज़ पर

× × × × × ×

न ख़त्म होगी कभी अब ये बदहवासी क्या
रहेगी रोज़ ये धरती लहू की प्यासी क्या

बदन के साथ ही रूहें भी आज हैं उरियाँ
लिबास ऐसे में क्या और बेलिबासी क्या

जहाँ के लोग बदलते हैं रोज़ आईने
वहाँ के लोगों से उम्मीदे-ख़ुदशनासी क्या

जिसे भी देखिए आता है पोछने आँसू
तमाम लोग यहाँ हो गये सियासी क्या

हमीं को देखके हैरान क्यूँ हैं आईने
फ़क़त हमारे ही चेह्रे पे है उदासी क्या

× × × × × ×

कोई दीवार है कमज़ोर, न दर टूटे हुए
फिर भी अन्दर से हैं कितनों के ही घर टूटे हुए

क़हक़हे बाँटते फिरते थे जो मह्फ़िल-मह्फ़िल
वो भी क्यूँ लगने लगे शामो-सहर टूटे हुए

क्या बनेगा वो किसी शख़्स की बैसाखी आज
इक ज़माना हुआ ख़ुद जिसकी कमर टूटे हुए

किस तरह लोग करें अपने सभी ऐब शुमार
आइने सबको मयस्सर हैं मगर टूटे हुए

× × × × × ×

मोजिज़े क्या–क्या दिखाती है ये तन्हाई मेरी
बन्द हों आँखें तो बढ़ जाती है बीनाई मेरी

जिसने ज़ख़्मों को हमेशा दी हो नासूरों की शक्ल
वो कहाँ करने लगा आकर मसीहाई मेरी

नेकियाँ करके ढिँढोरा तो नहीं पीटूँगा मैं
सामने आये न आये कोई अच्छाई मेरी

देखकर जिनको तरोताज़ा रहा करती है रूह
उन ही फूलों से हमेशा महके अँगनाई मेरी

मेरे सर पर हाथ रख देता है जब कोई बुज़ुर्ग
मुझको लगता है कि जैसे आज बन आई मेरी
× × × × × ×



फ़िराक़ गोरखपुरी
(सन् 1896-1982 ई.)

फ़िराक़ साहब की बहुत-सी किताबों को पढ़ने के बाद उनकी गहरी आलोचकीय दृष्टि का ज्ञान होता है। शायरी से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत-से लोग, चाहे वो शायर हों चाहे शायरी चाहनेवाले, फ़िराक़ साहब के गद्य-पक्ष के बारे में बहुत कम जानते हैं। कई लोग तो फ़िराक साहब के नाम से मंसूब चुटकुलों के अलावा कुछ भी नहीं जानते। आधुनिक युग के शायरों में अपने जीवनकाल में ही जितनी शोह्रत, मुहब्बत और इज़्ज़त फ़िराक़ साहब को मिली, उतनी और किसी को नहीं। इधर बीच फ़िराक़ साहब की शीघ्र प्रकाश्य कुछ किताबों का अनुवाद करने के क्रम में मैंने ख़ुद भी बहुत-कुछ नया जाना। यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा फ़िराक़ साहब का ये लेख उत्तर-प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ से प्रकाशित किताब[1] से साभार लिया गया है।

ग़ज़ल के कुछ पारिभाषिक शब्दों और शब्द-पदों की जानकारी इस प्रवेशांक में आवश्यक समझी गयी, इसलिए इस लेख को शामिल किया गया। ग़ज़ल के व्याकरण से सम्बन्धित इस तरह के लेख शायरी के क्षेत्र में आ रही नयी पीढ़ी के लिए आवश्यक हैं। आज के समय में उस्ताद-शागिर्द की परम्परा लगभग समाप्त होती जा रही है, लेकिन उस्तादों के नये-पुराने लेख इस दिशा में मददगार साबित हो सकते हैं। आगे फिर किसी अंक में फ़िराक़ साहब के आलोचनात्मक लेख भी सम्मिलित किये जायेंगे।

1. उर्दू भाषा और साहित्य : फ़िराक़ गोरखपुरी, द्वितीय संस्करण-1979 पृ. 345-361

फ़िराक़ गोरखपुरी

काव्यशास्त्र सम्बन्धी कुछ बातें

प्रत्येक भाषा का काव्य कुछ विशेष ढंग से गठा हुआ होता है। यूँ तो अगर अर्थ समझ लिया जाये तो कविता का थोड़ा बहुत रसास्वादन हो ही सकता है, लेकिन पूरे रसास्वादन के लिए काव्यशास्त्र सम्बन्धी कुछ आधारभूत बातों— काव्य-विवेचन के सिलसिले में प्रयुक्त होनेवाले पारिभाषिक शब्दों, काव्य-रूपों, गुण-दोषों आदि— का जानना ज़रूरी हो जाता है। आगे हम इन्हीं बातों का कुछ विवेचन करेंगे ताकि सहृदय पाठ्यक्रम उर्दू-काव्य का पूरा आनन्द ले सकें।

कुछ पारिभाषिक शब्द

सबसे पहले काव्य-विवेचन के सम्बन्ध में प्रयुक्त होनेवाले कुछ ऐसे शब्दों का अर्थ जानना ज़रूरी है, जो बार बार प्रयुक्त होते हैं :

फ़र्द- मिस्रे और शेर प्रत्येक काव्य-रूप की आधारिक इकाइयाँ होते हैं। ग़ज़ल के अलावा अन्य काव्य-रूपों में तो शेर एक दूसरे से सम्बद्ध ही होते हैं, ग़ज़ल में प्रत्येक शेर का अलग अस्तित्व होता है। फिर भी किसी ग़ज़ल के सारे शेरों में एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये और एक ही बह्र (छन्द) की पाबन्दी ज़रूरी होती है, किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई कवि एक अकेला शेर ही मार्के का कह देता है और पूरी ग़ज़ल उस स्तर की नहीं बन पाती तो उसे अकेला ही रहने देता है। इस प्रकार के अकेले शेरों को फ़र्द कहते हैं। 'शाद' अज़ीमाबादी का ये शेर फ़र्द है—

जिस से तेरा बयान सुनते हैं
नित नयी दास्तान सुनते हैं

रदीफ़- ग़ज़ल या क़सीदे के शेरों के अन्त में जो शब्द बार-बार दुहराये जाते हैं। उन्हें रदीफ़ कहते हैं। 'ज़ामिन' की एक ग़ज़ल के कुछ शेर देखिए—

दुनिया में फिर वो काम के क़ाबिल नहीं रहा
जिस दिल को तुमने देख लिया दिल नहीं रहा

कश्तीए-इश्क़ आके किनारे हुई तबाह
साहिल भी एतबार के क़ाबिल नहीं रहा
ख़ूँरेज़ियों का ज़िक्र ही क्या है कि उम्र भर
ज़ेरे-नियाम ख़ंजरे-क़ातिल नहीं रहा

इनमें पहले शेर(मत्ला) के दोनों मिस्रों के अन्त में तथा अन्य शेरों के दूसरे मिस्रों के अन्त में 'नहीं रहा' के शब्द बार-बार आये हैं। इसे इस ग़ज़ल की रदीफ़ कहा जायेगा। रदीफ़ साधारणत: ग़ज़लों और क़सीदों में होती ही है, लेकिन क़ाफ़िया की तरह रदीफ़ कोई अनिवार्य चीज़ नहीं है।

क़ाफ़िया- ग़ज़ल के शेरों में अन्त में जो अन्त्यानुप्रासयुक्त शब्द आते हैं, उन्हें क़ाफ़िया कहा जाता है। ऊपर के उदाहरण में 'दिल', 'क़ाबिल', 'साहिल' आदि शब्द क़ाफ़िये के हैं। ग़ज़ल और क़सीदे के शेरों में एक बार रदीफ़ को ख़त्म किया जा सकता है, लेकिन क़ाफ़िया होना बहुत ज़रूरी होता है। उदाहरणार्थ 'नज़ीर' बनारसी की एक ग़ज़ल के निम्नलिखित शेर देखिए—

ये इनायतें ग़ज़ब की ये बला की मेह्रबानी
मेरी ख़ैरियत भी पूछी किसी और की ज़बानी
तेरा हुस्न सो रहा था मेरी छेड़ ने जगाया
वो निगाह मैंने डाली कि सँवर गयी जवानी

इस ग़ज़ल में रदीफ़ कोई नहीं है। सिर्फ़ 'मेह्रबानी', 'ज़बानी', 'जवानी' आदि क़ाफ़िये हैं।

ज़मीन- जिन ग़ज़लों में छन्द, रदीफ़, क़ाफ़िये एक ही होते हैं, उन्हें एक ही ज़मीन की ग़ज़लें कहते हैं। तरही मुशायरों में पढ़ी जानेवाली सारी-सारी ग़ज़लें एक ही ज़मीन की होती हैं। ज़मीन को किसी ग़ज़ल का बाह्य कलेवर कह सकते हैं।

तरह या मिस्रए-तरह- तरही मुशायरों का फ़ायदा ये होता है कि संयोजक-गण मुशायरों की घोषणा के साथ ही एक मिस्रा दे देते हैं और उसकी रदीफ़ और क़ाफ़िये का भी उल्लेख कर दिया जाता है। इस प्रकार मुशायरों में पढ़ी जानेवाली सारी ग़ज़लों के छन्द, रदीफ़ और क़ाफ़िये का बोध हो जाता है और ग़ज़लों की ज़मीन मालूम हो जाती है। इसी मिस्रे को तरह या मिस्रए-तरह कहते हैं। रीतिकालीन काव्य में 'समस्या' ऐसी ही चीज़ थी, अन्तर ये था कि 'समस्या' में छन्दों के केवल अन्तिम शब्द दे दिये जाते थे। मुशायरों में 'तरह' के तौर पर पूरा मिस्रा दे दिया जाता है।

गिरह- मुशायरों में कविगण अपनी काव्य-श्रेष्ठता दिखाने के लिए कभी-कभी ये करते हैं कि मिस्रए-तरह को मिस्रए-सानी(शेर का दूसरा मिस्रा) बनाकर उसमें अपनी ओर से

मिस्रए-ऊला(पहला मिस्रा) लगा देते हैं और अच्छे-से-अच्छा शेर बनाने की कोशिश करते हैं। कवियों द्वारा मिस्रए-तरह के जोड़े हुए मिस्रों को गिरह कहते हैं।

मत्ला- मत्ला ग़ज़ल या क़सीदे के शुरू के उस शेर को या एकाधिक शेरों को कहते हैं, जिनमें रदीफ़-क़ाफ़िया एक ही होता है। वैसे ग़ज़ल के सारे शेरों के दूसरे मिस्रों के रदीफ़ एवं क़ाफ़िये एक ही होते हैं, लेकिन मत्ले या मत्लों के पहले मिस्रों में भी वही रदीफ़ और क़ाफिया होता है, जो दूसरे मिस्रों में होता है। मत्ला एक ग़ज़ल में एक भी हो सकता है और पूरी-की-पूरी ग़ज़ल भी कभी-कभी मत्लों में ही कह दी जाती है। किसी ग़ज़ल में मिस्रों की तादाद पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है, लेकिन आम तौर पर ग़ज़ल के कुछ शेरों का चौथा या पाँचवा भाग मत्लों का होता है। इस अनुपात में मत्ले होने पर ग़ज़ल देखने-सुनने में अच्छी लगती है। कुछ कविगण उपयुक्त मत्ला न हो पाने पर ग़ज़ल को बग़ैर मत्ले के ही शुरू कर देते हैं, फिर भी ऐसी ग़ज़लें बहुत कम होती हैं। वैसे काव्यशास्त्र के अनुसार ग़ज़ल में मत्ला न होना कोई दोष नहीं है। हाँ, क़सीदों में एक नहीं विभिन्न अवसरों पर कई मत्लों की आवश्यकता पड़ती है और उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता।

मक़्ता- ग़ज़ल के अन्तिम शेर को (जिसमें साधारणतः कविगण अपना तख़ल्लुस भी डाल देते हैं) मक़्ता कहते हैं। आम तौर पर लोग मक़्ते के पहलेवाले शेर को 'आख़िरी शेर' कहते हैं, लेकिन कुछ लोगों का कहना है कि मक़्ता ही आख़िरी शेर होता हैं। काव्यशास्त्र में आख़िरी शेर जैसी कोई अलग चीज़ नहीं है। मक़्ता का मतलब ही अरबी में 'कटा हुआ' होता है और ये इस बात का द्योतक है कि ग़ज़ल यहाँ से समाप्त हो गयी यानी ये ग़जल का अन्तिम शेर है।

तख़ल्लुस- साधारणतः सभी उर्दू-कवि अपना एक नाम रख लेते हैं। जिसका वे अपनी रचनाओं में अन्तिम मिस्रों में प्रयोग करते हैं। इसे तख़ल्लुस कहते हैं। यह तख़ल्लुस कभी असली नाम का ही एक भाग होता है, कभी असली नाम से बिल्कुल असम्बद्ध होता है। कुछ लोग तख़ल्लुस रखते ही नहीं तख़ल्लुस केवल परिपाटी है(जो ब्रज और अवधी में भी थी), शास्त्रीय दृष्टि से अनिवार्य नहीं।

मुसल्लस- मुसल्लस ऐसी कविता को कहते हैं, जिसमें तीन-तीन मिस्रों के 'बन्द' होते हैं। इन तीन मिस्रों के आपसी सम्बन्ध के आधार पर मुसल्लस के विभिन्न रूप होते हैं। कभी तीनों मिस्रे एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में होते हैं और प्रत्येक 'बन्द' में अलग-अलग रदीफ़-क़ाफ़िये होते हैं। कभी पहले दो मिस्रे एक रदीफ़-क़ाफ़िये में होते हैं और तीसरा मिस्रा अलग, लेकिन सारे 'बन्दों' के तीसरे मिस्रे एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में होते हैं।

मुख़म्मस या ख़म्सा- इनमें पाँच-पाँच मिस्रों के 'बन्द' होते हैं। इन पाँच में चार तो एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में होते हैं और पाँचवाँ अलग, लेकिन सारे 'बन्दों' के पाँचवें मिस्रे भी एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में होते हैं। कभी-कभी हर 'बन्द' के आख़िर में बार-बार एक ही मिस्रा आता है।

मुसद्दस- मुसद्दस का अर्थ है छः-छः मिसरों के बन्दोंवाली नज़्म। इसका क़ायदा ये है कि हर 'बन्द' के पहले चार मिस्रे एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में होते हैं और बाद के मिस्रे भी एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में, किन्तु बाद के मिस्रों का रदीफ़-क़ाफ़िया पहले चारवाले से भिन्न होता है। मुसद्दस के किसी 'बन्द' के किसी मिस्रे का किसी अन्य 'बन्द' के किसी मिस्रे से कोई शाब्दिक सम्बन्ध नहीं होता है।

मुसम्मन- मुसम्मन आठ-आठ मिस्रों के बन्दोंवाली नज़्म को कहते हैं। इसमें हर 'बन्द' के पहले छः मिस्रे एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में (लेकिन पहले छः मिस्रों के रदीफ़-क़ाफ़िये से भिन्न) होते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रथम 'बन्द' के अन्तिम दो मिस्रे हर 'बन्द' के अन्तिम दो मिस्रों का स्थान बार-बार लेते रहते हैं।

तर्कीबबन्द- ये ऐसी नज़्म होती है, जिसके 'बन्दों' में मिस्रों की कोई निश्चित संख्या नहीं होती, लेकिन इसमें दो शर्तें होती हैं। एक तो ये कि हर 'बन्द' में मिस्रों की संख्या आठ से अधिक हो और सम हो, दूसरी ये कि एक नज़्म के विभिन्न 'बन्दों' में बराबर संख्या में मिस्रे हों। हर 'बन्द' में अन्तिम दो मिस्रों को छोड़कर अन्य सभी मिस्रे या तो एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में होते हैं या ग़ज़ल की सूरत में होते हैं, यानी पहला तथा दूसरा, चौथा, छठा, आठवाँ, दसवाँ, बारहवाँ (अर्थात् सभी सम संख्यावाले मिस्रे) एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में होते हैं और शेष स्वतन्त्र होते हैं। अन्तिम दो मिस्रे भी एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में होते हैं, लेकिन पहले के रदीफ़-क़ाफ़ियों से भिन्न। कभी-कभी नज़्म के सारे 'बन्दों' के अन्तिम दो मिस्रे एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में बँधे होते हैं।

तर्जीअबन्द- ये भी तर्कीबबन्द की तरह होता है। सारे बन्धन उसी की भाँति होते हैं। अन्तर केवल इतना होता है कि पहले 'बन्द' के अन्तिम दो मिस्रे ही बार-बार हर 'बन्द' के अन्तिम दो मिस्रों की जगह आते हैं।

मुस्तज़ाद - मुस्तज़ाद का अर्थ है— बढ़ाया हुआ। किसी ग़ज़ल के हर मिस्रे के अन्त में छन्दशास्त्र की पाबन्दियों के साथ एक टुकड़ा जोड़ दिया जाता है। ये जोड़े हुए टुकड़े वज़्न (मात्रा) में तो बराबर होते ही हैं, साथ ही उनमें रदीफ़-क़ाफ़िया की पाबन्दी भी होती है।

यानी स्वतन्त्र मिस्रों में जोड़े हुए टुकड़े रदीफ़-क़ाफ़िये की पाबन्दी से आज़ाद होते हैं और रदीफ़-क़ाफ़िये के पाबन्द मिस्रों में टुकड़े भी एक ही रदीफ़ क़ाफ़ियेवाले जोड़े जाते हैं। कभी इन जोड़े हुए टुकड़ों के रदीफ़-क़ाफ़िये ग़ज़ल के ही रदीफ़-क़ाफ़िये होते हैं और कभी दूसरे।

तारीख़- अरबी अक्षरों में हर एक का आंकिक मूल्य भी होता है। किसी घटना(जन्म-मृत्यु) आदि पर कविगण ऐसा मिस्रा मौज़ूँ करते हैं, जिसके सारे अक्षरों के द्योतक अंकों को जोड़ने पर उक्त घटना का संवत्सर निकल आये। इसी को तारीख़ कहते हैं।

काव्य-रूप

किसी भाषा के काव्य को अच्छी तरह समझने के लिए उसके विभिन्न काव्य-रूपों का ज्ञान भी आवश्यक है। उर्दू के काव्य-रूपों में ये भी विशेषता है कि अर्थ और कथ्य की दृष्टि से भी विभिन्न काव्य-रूपों में अन्तर होता है, यहाँ तक कि शब्दों के स्वरूप और ध्वनियाँ भी अलग-अलग काव्य-रूपों में अलग-अलग प्रयुक्त होती हैं। अतएव काव्य की सफल विवेचना के लिए काव्य-रूपों का ज्ञान आवश्यक है। उर्दू में प्रमुख काव्य-रूप यह हैं- ग़ज़ल, क़त्आ, मसनवी, क़सीदा, रुबाई, वासोख़्त, गीत आदि। नीचे हम इनके बारे में आधारभूत बातें बताने का प्रयत्न करेंगे—

ग़ज़ल- ग़ज़ल से सभी परिचित हैं। इसका बाह्य रूप ये होता है कि इसमें कम-से-कम पाँच शेर होते हैं। अधिकतम शेरों की कोई संख्या निश्चित नहीं हैं किन्तु साधारणत: इक्कीस-बाइस शेरों से अधिक की ग़ज़लें नहीं देखी जातीं। औसत ग़ज़ल सात शेर से लेकर तेरह शेर तक की होती है। पुराने काव्यशास्त्रियों के कथनानुसार ग़ज़ल के शेरों की संख्या विषम रहनी चाहिए, लेकिन इस नियम का न कोई कड़ाई से पालन करता है और न इस नियम का कोई औचित्य ही हो सकता है। ग़ज़ल में— जैसा कि पहले कहा जा चुका है— सारे शेरों के दूसरे मिस्रे एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में बँधे होते हैं और मत्लों के पहले मिस्रे भी इन्हीं रदीफ़-क़ाफ़ियों में बँधे होते हैं।

अर्थ की दृष्टि से ग़ज़ल का हर एक शेर अपनी जगह स्वतन्त्र होता है। ग़ज़ल असम्बद्ध कविता है। इस बात पर कुछ लोगों को आपत्ति है कि असम्बद्ध शेरों को एक ही कविता में क्यों रखा जाये, लेकिन ये अर्थ की दृष्टि से असम्बद्ध शेर भी एक रदीफ़-क़ाफ़ियों में बँधे होने और एक ही छन्द में कहे जाने के कारण एक ध्वन्यात्मक वातावरण की सृष्टि कर देते हैं, जिसमें विभिन्न शेरों का अर्थ अच्छी तरह उभरकर आता है। यही कारण है कि प्राचीनकाल में तो काव्य-क्षेत्र में ग़ज़ल के अलावा और बहुत ही कम काव्य-रूप दिखायी देते थे। आज भी नज़्मों का काफ़ी ज़ोर होने पर भी ग़ज़ल का ही पल्ला भारी दिखायी देता है। ग़ज़ल की लोकप्रियता का ये हाल है कि हिन्दी, पंजाबी, कश्मीरी, पश्तो,

यहाँ तक कि हिन्दी-क्षेत्र की जनपदीय भाषाओं— अवधी, भोजपुरी, ब्रज आदि में भी ग़ज़लें लिखी जाने लगी हैं।

ग़ज़ल के शेरों का विषय सीमित नहीं है, फिर भी उसमें मुख्यत: करुणा, प्रेम और समर्पण के भाव प्रदर्शित किये जाते हैं। ग़ज़लों में चूँकि एक ही शेर में पूरी बात कह देनी होती है। इसीलिए उनमें प्रतीकात्मकता का बहुत सहारा लिया जाता है और चूँकि एक-एक शब्द विभिन्न परिस्थितियों में असंख्य वस्तुओं का प्रतीक हो सकता है, इसलिए धीरे-धीरे ग़ज़ल में व्यापकता की कला इतनी विकसित हो गयी है कि एक ही शेर प्रतीक रूप में आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और व्यावहारिक जीवन में एक-सा लागू हो सकता है। इसी आधार पर दार्शनिक तथ्यों को कविता के साथ सामने लाने में ग़ज़ल का प्रयोग बहुत किया जाता है। इसीलिए ग़ज़ल की परम्परा गम्भीरता और तत्त्वज्ञान की परम्परा बन गयी है, यद्यपि ऊपरी दृष्टि से देखने पर उसमें आशिक़-माशूक़ के चोचलों के अलावा कुछ नहीं दिखायी देता, यही ग़ज़ल की तारीफ़ है।

चूँकि ग़ज़ल का मिज़ाज मूलत: समर्पणवादी होता है, इसीलिए उसमें कोमलकान्त पदावली का ही प्रयोग अच्छा समझा जाता है। ग़ज़ल के शेरों में प्रयुक्त होनेवाले शब्द और शब्द-विन्यास अर्थ ही नहीं, ध्वनि के लिहाज़ से भी कोमल और मधुर हों, तभी कवि की सफलता मानी जाती है।

पुराने ज़माने में ग़ज़ल का एक और रूप प्रचलित था, जिसे 'ग़ज़ले-मुसल्सल' कहते हैं। इसमें शेर अलग-अलग स्वतन्त्र विषयों पर नहीं होते हैं, बल्कि एक ही विषय पर कहे हुए होते हैं और उनमें परस्पर सम्बन्ध भी होता है। वर्तमान समय में नज़्मों के कारण इस प्रकार की ग़ज़ल की ज़रूरत ही नहीं रही है।

क़त्आ- कभी-कभी ग़ज़ल में कोई विषय ऐसा आ जाता है, जिसे एक ही शेर में उतने ज़ोर के साथ नहीं कहा जा सकता, जितना कवि चाहता है। ऐसी हालत में दो या दो से अधिक शेरों में उस विषय को कह दिया जाता है और शेरों के इस समूह को क़त्आ कहकर ग़ज़ल में ही शामिल कर दिया जाता है। क़त्आ सिर्फ़ ग़ज़लों के ही अन्दर हो ऐसी कोई पाबन्दी नहीं है। ग़ज़लों के बाहर स्वतन्त्र रूप से भी क़त्अे कहे जाते हैं। उदाहरणस्वरूप नीचे 'नज़ीर' अकबराबादी की एक प्रसिद्ध ग़ज़ल दी जा रही है, जिसमें क़त्आ भी शामिल है-

वो रश्के-चमन कल जो ज़ेबे-चमन था
चमन जुम्बिशे-शाख़ से सीनाज़न था
गया मैं जो उस बिन चमन में तो हर गुल
मुझे उस घड़ी अख़्गरे-पैरहन था
ये ग़ुंचा जो बेदर्द गुलचीं ने तोड़ा
ख़ुदा जाने किसका ये नक़्शे-दहन था

क़त्आ

तने-मुर्दा को क्या तकल्लुफ़ से रखना
गया वो तो जिससे मुज़य्यन ये तन था
कई बार हमने ये देखा कि जिनका
मुशय्यन बदन था मुअत्तर क़फ़न था
जो क़ब्रे-कुहन उनकी उखड़ी तो देखा
न उज़्वे-बदन था न तारे-क़फ़न था
'नज़ीर' आगे हमको हवस थी कफ़न की
जो सोचा तो नाहक़ का दीवानापन था

रुबाई- ये चार-चार मिस्रों के स्वतन्त्र मुक्तक होते हैं, जिनमें पहले, दूसरे और चौथे मिस्रों का एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में होना ज़रूरी होता है। हिन्दी के कुछ कवियों ने भी रुबाइयाँ कही हैं, किन्तु उनमें से अधिकतर कवियों को ये नहीं मालूम कि ग़ज़ल तथा अन्य काव्य-रूपों के लिए जो पैंतीस-छत्तीस बहुप्रयुक्त छन्द प्रयोग में आते हैं, उनमें से किसी में भी रुबाई नहीं कही जा सकती। रुबाइयों के लिए चौबीस छन्द अलग से निश्चित हैं, जिनमें रुबाई के अतिरिक्त और कोई कविता नहीं कही जा सकती। रुबाई के छन्द गेय नहीं होते बल्कि उन्हें झटकों के साथ पढ़ा जाता है।

रुबाई के विषय में कोई नियम सख़्ती से नहीं बरता जाता। पुराने कवियों ने ग़ज़ल के विषयों पर ही बहुत-सी रुबाइयाँ कही हैं। हास्य-कवियों ने— मुख्यत: 'अकबर' इलाहाबादी ने— रुबाइयों द्वारा लोगों को जी भरकर हँसाया है। फिर भी रुबाई का क्षेत्र अधिकतर गम्भीर तत्त्वज्ञान का होता है। नैतिक और धार्मिक विषयों पर भी ख़ूब रुबाइयाँ कही गयी हैं। मैंने अपने 'रूप' नामक रुबाइयों के संग्रह में सौन्दर्यबोध के नये मान स्थापित किये हैं, जिनका उर्दू-संसार ने स्वागत किया है।

क़सीदा- क़सीदा ऐसा काव्य-रूप है जिसका उर्दू में प्रयोग अब बहुत कम पाया जाता है, किन्तु इस शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक प्रमुख शायरों के यहाँ क़सीदे ज़रूर मिलते थे। उर्दू और फ़ार्सी में क़सीदों का प्रयोग राजाओं अथवा शासनाधिकारियों की प्रशंसा के लिए किया जाता था, लेकिन अजीब बात ये थी कि प्रशंसा-पत्रों के वास्तविक गुणों की ओर इनमें कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। ईरानी और मुग़ल परम्परा ऐसी बन गयी थी कि क़सीदा-गो शायर दरबारों में इसलिए नहीं रखे जाते थे कि दरबारों की शोभा बढ़े। क़सीदों में सभी राजाओं की वीरता, वैभव, शक्ति और दानशीलता की प्रशंसा एक ही ढंग से— अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्वक— की जाती थी। शायर इस बात में कमाल दिखाते थे कि कल्पना को ऊँचे से ऊँचा उड़ाकर एक अवास्तविक किन्तु शानदार वातावरण की सृष्टि कर ली जाये।

उपमाओं और रूपकों का इनमें निर्बन्ध रूप से प्रयोग किया जाता था और कल्पना की बाग खैंची ही नहीं जाती थी।

क़सीदों के चार अंग माने गये हैं— (1) तश्बीब या भूमिका, जिसमें कवि किसी अन्य विषय— उदाहरणार्थ, बहार का ज़िक्र या प्रेम और वियोग की बातें उठाता था, जिसका प्रशंसापात्र से कोई सम्बन्ध नहीं होता था; (2) गुरेज़ यानी भूमिका से मूल विषय पर आने का कलात्मक ढंग, जिसमें भूमिका के अन्तिम शेरों से ही मूल विषय पर आने की राह निकाली जाती थी; (3) मद्ह यानी प्रशंसा, जो क़सीदे का मूल विषय होता था और इसीलिए बहुत लम्बा होता था; और (4) दुआ, जिसमें कुछ शेर प्रशंसा-पात्र के लिए आशीर्वाद के रूप में कहकर क़सीदे को समाप्त कर दिया जाता था।

क़सीदे का बाह्य कलेवर ग़ज़ल की ही तरह होता है। इसमें मत्लों के दोनों मिस्रों और सारे शेरों के दूसरे मिस्रों का एक ही रदीफ़-क़ाफिये में बाँधना ज़रूरी होता है। मत्लों की संख्या निश्चित नहीं हैं, लेकिन क़सीदे में साधारणत: अधिक मत्ले कहने का प्रचलन नहीं है। एक बात ज़रूर है कि तश्बीब और मद्ह को नये मत्ले से आरम्भ करना अनिवार्य है।

क़सीदे में चूँकि प्रशंसा होती है और प्रशंसा उत्साह के वातावरण की सृष्टि करती है, इसलिए ग़ज़ल के विपरीत क़सीदों में कड़कते, गूँजते, शानदार और ज़ोरदार शब्दों का प्रयोग किया जाता है। चूँकि इनमें कवि अपनी मनोदशा के हृदयद्रावक वर्णन करने के बजाय अपनी काव्यशक्ति का प्रदर्शन करता है, इसलिए जितने कठिन और दुरूह शब्दों का प्रयोग होता था, उतना ही क़सीदा सफल समझा जाता था। फ़ार्सी के क़सीदों में अरबी के शब्दों की भरमार होती थी और उर्दू के क़सीदों में अरबी-फ़ार्सी के शब्दों की। कुछ कवि— जैसे ईरान में 'ख़ाक़ानी' और भारत में 'ज़ौक़'— क़सीदों में अपना अन्य विद्याओं का ज्ञान भी इस ज़ोर से दिखाते थे कि उन विषयों से अनभिज्ञ लोगों की समझ में कुछ भी नहीं आता था। इस पर कुछ लोगों ने ऐसे कवियों के विरुद्ध आपत्ति भी की है।

किन्तु क़सीदे केवल दरबारों की ही शोभा हों, ऐसी कोई बात नहीं है। जिन कवियों ने दरबारों से कोई सम्बन्ध नहीं रखा, उन्होंने भी धार्मिक महापुरुषों की शान में क़सीदे कहे हैं। कुछ दरबारी कवियों ने भी ऐसे क़सीदे कहे हैं। धार्मिक क़सीदों (और अन्य धार्मिक कविताओं)के क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी के ग़ुलाम इमाम शहीदी और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ काल में मुहसिन काकोरवी ने बहुत नाम पैदा किया है।

मसनवी- मसनवी वास्तव में पदबद्ध कथा होती है। मसनवी का इस ज़माने तक में रिवाज है और राजनीतिक तथा सामाजिक विषयों का इसमें समावेश कर दिया जाता है, किन्तु मसनवी का मूल क्षेत्र कहानी ही है। फ़ार्सी में मसनवियाँ बहुत कही गयी हैं और उन्हें चार भागों में बाँटा गया है— (1) रज़्मिया यानी युद्ध-सम्बन्धी; (2) बज़्मिया यानी प्रेम-सम्बन्धी, (3)

धार्मिक-नैतिक तथा (4) सूफ़ी-दर्शन सम्बन्धी। उर्दू में मुख्यत: दूसरी कोटि की ही मसनवियाँ कही जाती हैं। मसनवियों की कहानियाँ बहुत गठी हुई होती हैं। उनमें साधारण जीवन से सम्बद्ध कहानियाँ भी होती हैं और जिन्नों-परियों की कपोल-कल्पित कहानियाँ भी, जिनका प्रत्येक देश के सामन्ती काल में प्रचलन होता है। इन कपोल-कल्पित कहानियों में स्वाभाविकता का बन्धन न होने के कारण कथा का तारतम्य क़ायम रखना अपेक्षाकृत सरल होता था। उर्दू की प्रसिद्ध मसनवियाँ 'सहरुल बयान', 'गुलज़ारे-नसीम' आदि इसी तरह की हैं।

बाह्य रूप मसनवियों में ग़ज़लों और क़सीदों से बिल्कुल अलग होता है। इनमें प्रत्येक शेर के दोनों मिस्र्रे तो एक ही रदीफ़-क़ाफ़िये में बँधे होते हैं, लेकिन विभिन्न शेरों के रदीफ़-क़ाफ़िये एक-दूसरे से बिल्कुल अलग होते हैं। पूरी-की-पूरी मसनवी का एक छंद में होना ज़रूरी है और आठ छोटी बह्रें(छंद) इसके लिए प्रयुक्त होती हैं। वैसे कोई कवि अन्य छंदों का प्रयोग करे तो भी काव्यशास्त्र की दृष्टि से कोई ग़लती नहीं समझी जाती, कम-से-कम आजकल नहीं समझी जाती। मसनवी काफ़ी लम्बी कविता होती है, इसलिए उसके शेरों की कोई संख्या निश्चित नहीं है। छोटे-मोटे विषयों को मसनवी के ढंग से थोड़े से शेरों में भी कह दिया जाता है और इसको नज़्मों के असंख्य रूपों में से एक रूप के तौर पर शामिल कर लिया गया है।

उर्दू के अन्य काव्य-रूपों में विशेष उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं—

वासोख़्त- यह इस प्रकार की प्रेम-सम्बन्धी कविता होती है, जिसमें प्रेमी प्रेमिका से लड़ता झगड़ता है और धमकी देता है कि तुम अपनी निष्ठुरता क़ायम रखोगी तो मैं तुम्हारा प्रेम छोड़ दूँगा। इस काव्य-रूप का उन्नीसवीं शताब्दी में— विशेषत: लखनऊ में— बहुत रिवाज था। इसमें प्रेम का बहुत नीचा स्तर पेश किया जाता है, इसलिए इसे वर्तमान युग में कोई पसन्द नहीं करता है।

शह्रआशोब- इसमें किसी शह्र के उजड़ने या बरबाद हो जाने पर उसके पुराने वैभव को दुख के साथ याद किया जाता है। इस प्रकार की कविता अत्यन्त मार्मिक होती है।

हम्द- भगवान् की प्रशंसा में की गयी कविताओं को हम्द कहते हैं। इसी का एक रूप मुनाजात होता है, जिसमें भक्त इस प्रकार अपने हृदय की बातें रखता है, जैसे वो भगवान् से बातें कर रहा हो।

नात- हज़रत मुहम्मद की प्रशंसा में कही गयी प्रत्येक प्रकार की कविता को नात कहते हैं।

सलाम और नौहा– इनमें हज़रत हुसैन की शहादत पर शोक प्रकट किया जाता है। ये छोटी कविताओं के रूप में मर्सिये ही होते हैं, केवल मर्सिये के समस्त अंग इनमें नहीं आ सकते।

हज्व– किसी प्रतिद्वन्द्वी की निन्दा में कही हुई कविता को हज्व कहते हैं। अठारहवीं शताब्दी के बाद इनका चलन नहीं रहा।

हज़ल– ग़ज़ल को यदि हास्यात्मक ढंग से बनाया जाये तो उसका यह रूप हज़ल कहलाता है।

इनके अलावा वर्तमान समय में अतुकान्त और छन्दहीन कविताओं तथा गीतों का प्रचलन हो गया है, जिनका रूप वही होता है जो हिन्दी की ऐसी कविताओं में होता है।

गुण–दोष विवेचन

प्रत्येक भाषा के साहित्य में, विशेषत: काव्य–साहित्य में गुण–दोष विवेचन के अपने मानदण्ड होते हैं। उर्दू–काव्य में गुण–दोष विवेचन के अपने नियम हैं, जिनका पालन कड़ाई के साथ किया जाता है। उर्दू के काव्य में जिन गुणों को मान्यता दी जाती है, उनमें से कुछ मुख्य गुण ये हैं—

फ़साहत– फ़साहत का मतलब ये है कि कविता में कोई ऐसा शब्द या शब्द–विन्यास न आने पाये, जिसमें नियमानुसार कोई दोष हो। दोषहीन शेर को फ़सीह शेर कहा जाता है। ग़ज़लों में भारी–भरकम शब्दों के प्रयोग से भी फ़साहत ख़त्म हो जाती है। अप्रामाणिक रूप से किसी शब्द का व्यवहार भी शेर को ग़ैर–फ़सीह बना देता है।

बलाग़त– बलाग़त का अर्थ ये है कि कविता में सारे शब्द, ध्वनि, प्रवाह और अर्थ की व्यापकता के लिहाज़ से इस तरह जड़े हुए हों कि अगर एक शब्द की जगह कोई समानार्थी और उसी वज़्न का शब्द रख दिया जाये तो रस में कमी आ जाये। फ़साहत और बलाग़त के लिए सुरुचि और अभ्यास ज़रूरी शर्तें हैं।

मुसावात– इसका मतलब ये है कि अर्थ को व्यक्त करने के लिए कविता में उतने ही शब्द आयें, जितने ज़रूरी हैं। न भरती के शब्द हों और न कोई महत्त्वपूर्ण शब्द ऐसा छूट जाये, जिससे अर्थ समझने या रसास्वादन में रुकावट पड़े। ये गुण भी निरन्तर अभ्यास से ही पैदा होता है।

सलासत– सलासत का अर्थ है सरलता। सलीस कलाम उस कविता को कहते हैं, जिसमें कोई शब्द ऐसा प्रयोग न किया जाये जो औसत पाठक या श्रोता के लिए कठिन पड़ जाये।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में इस बात को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था, किन्तु 'दाग़', 'अमीर' आदि कवियों ने जो मानदण्ड स्थापित किये हैं, उनकी दृष्टि से आज की कविता के लिये सलासत या शाब्दिक सरलता बहुत महत्त्वपूर्ण हो गयी है।

सादगी और सफ़ाई– सलासत में केवल शाब्दिक सरलता की माँग होती है, किन्तु कोई शेर सरल शब्दों के प्रयोग के बावजूद अर्थ की दृष्टि से दुरूह हो जाता है। ऐसे में कहा जाता है कि शेर सलीस होते हुए भी सादा नहीं है। दरअस्ल आज की उर्दू-कविता के लिए यह ज़रूरी समझा जाता है कि उसमें शब्द और भाव सरल और स्पष्ट हों, फिर भी वो प्रभावशाली हो। इसके लिए सरसता की बहुत ज़रूरत पड़ती है।

रवानी या प्रवाह– जब किसी शेर में इस तरह शब्द बिठाये जाते हैं कि बग़ैर किसी विशेष प्रयास के शेर ज़बान पर फिसलता चला जाये तो रवानी या प्रवाह पैदा होता है। रवानी उर्दू-कविता का बहुत महत्त्वपूर्ण गुण है। जिसके बग़ैर अर्थात्मक उच्चता होते हुए भी शेर बहुत पसन्द नहीं किया जाता है। ये काम केवल जन्मजात प्रतिभा, जागरूकता और अभ्यास के ही बल पर सम्पन्न किया जा सकता है।

मूसीक़ियत– मूसीक़ियत का अर्थ है गीतात्मकता। उर्दू ही नहीं, सारे संसार के काव्य में ये गुण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके लिए ज़रूरी है कि शब्दों का चयन और गठन इस तरह से किया जाये कि शेर पढ़ने पर एक तरह की लय से झंकार पैदा हो। विशेषत: ग़ज़ल के महत्त्व को ये गुण बढ़ा देता है।

तेवर और नाटकीयता– उर्दू-काव्य में इस गुण का भी बहुत महत्त्व है। ये ऐसे शब्द-गठन से पैदा होता है, जहाँ कि शेर को नाटकीयता के साथ पढ़ने पर ही उसका पूरा प्रभाव पड़े। पुराने ज़माने में, जब कि सस्वर कविता-पाठ का प्रचलन नहीं था। इस गुण का अपेक्षाकृत अधिक ध्यान रखा जाता था। ग़ालिब का ये शेर तेवर और नाटकीयता का उत्कृष्ट उदाहरण है—

कहा मिलने से मेरे ग़ैर के क्यों होवे रुस्वाई,
बजा कहते हो! सच कहते हो फिर कहियो कि 'हाँ क्यों हो!'

शोख़ी– ये बात को हल्के परिहास के साथ कहने की कला है, जिसमें परम्परा के अनुसार ही किसी विचार को इस मज़े के साथ व्यक्त कर दिया जाता है कि विचित्रता के आधार पर तीव्र हास्य पैदा नहीं हो पाता। फिर भी शोख़ी का प्रयोग होशियारी से न किया गया तो शेर में फक्कड़पन या हल्कापन पैदा हो जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी की बदनाम लखनवी कविता फक्कड़पन के जाल में फँस गयी थी। 'असद' गोरखपुरी का ये शेर शोख़ी का अच्छा उदाहरण है—

उठाकर अपना बिस्तर राह ले जन्नत की ऐ वाइज
ढला जाता है हूरों का शबाब आहिस्ता–आहिस्ता

बलन्दी–ए–तख़य्युल– इसका अर्थ है कल्पना की ऊँची उड़ान। उर्दू ही क्या हर एक काव्य–साहित्य का ये बहुत महत्त्वपूर्ण गुण है। आज के ज़माने में वही कविता अच्छी समझी जाती है, जो फ़ौरन समझ में आ जाने के साथ ही या तो जीवन के किसी ऐसे रहस्य को असंदिग्ध रूप से खोले, जिस पर पहले लोगों की निगाह ही न गयी हो या किसी सुपरिचित तथ्य का नया किन्तु वास्तविक पहलू सामने लाये। ये काम कवि की उच्च कल्पना द्वारा ही हो सकता है। ये ज़रूरी नहीं है कि हर सुननेवाला कवि के दृष्टिकोण से सहमत ही हो जाये; तात्पर्य केवल यही होता है कि असहमत होते हुए भी पाठक या श्रोता कवि के दृष्टिकोण की सरसरी तौर पर उपेक्षा न कर सके और जाने या अन्जाने उससे प्रभाव ग्रहण कर ही ले। महाकवि इक़्बाल की रचनाओं में ये तत्त्व सबसे अधिक दिखायी देता है। कल्पना की उच्चता के लिए दार्शनिकता अनिवार्य नहीं है, किन्तु गहन दृष्टि और तीव्र अनुभूति के साथ किसी तथ्य का निजी तौर पर निरीक्षण ज़रूरी है। नक़्ल करने से या बेतुके तौर पर कल्पना के घोड़े दौड़ाने से ये बात पैदा नहीं हो पाती।

उर्दू–कविता में जिन बातों को दोष माना गया है, उनकी जानकारी भी ज़रूरी है। सत्काव्य के परखने के लिए दोषों का ज्ञान अनिवार्य है ताकि ये देखा जा सके कि कोई रचना पूर्णत: या अंशत: दोष–रहित है या नहीं। नीचे हम उन कुछ गम्भीर दोषों का उल्लेख करेंगे जो अच्छी कविता में न होने चाहिए—

नामौज़ूँनियत– नामौज़ूँनियत का अर्थ है यति भंग होना या उर्दू शब्दावली में मौज़ूँ न होना। कोई शेर या मिस्रा दो तरह से नामौज़ूँ होता है। एक तो ये कि वो अपनी निश्चित बह्र (छन्द) से गिर जाये। इसे उर्दू–काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'सकता' भी कहते हैं। दूसरे ये कि किसी स्वर को ऐसी हालत में दबाया या गिराया जाये जब कि काव्यशास्त्र इसकी अनुमति न देता हो। अरबी और फ़ार्सी शब्दों के स्वर साधारणत: दबाकर या गिराकर पढ़ने की अनुमति नहीं है।

ताक़ीद– ताक़ीद का अर्थ है अपनी जगह से दूर हटना। जब किसी मिस्रे में शब्द अपने सही स्थान से बहुत ज़ियादा अलग करके रख दिये जाते हैं और मिस्रे में गुँजलक–सी पैदा हो जाती है तो ताक़ीद का दोष पैदा हो जाता है। ताक़ीद न आने देना केवल सुरुचि पर निर्भर है। कभी–कभी काफ़ी शब्दों में उलट–पलट होने पर

भी उलझन नहीं रहती और ताक़ीद का दोष नहीं आने पाता। जब किसी शेर में अर्थ उलझा हुआ होता है तो उसे ताक़ीदे–मानवी कहते हैं। शब्दों की बेकार उलट–पलट को ताक़ीदे–लफ़्ज़ी कहते हैं।

ग़राबत– इसका अर्थ ये है कि किसी ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाये जो साधारणत: पढ़े–लिखे लोगों की भाषा में प्रयुक्त न होता हो या ऐसे अर्थ में प्रयुक्त न होता हो, जिस अर्थ में शेर लिया गया है। तात्पर्य यही है कि केवल कोश की सहायता से किसी शब्द को उचित सिद्ध कर देना ही काफ़ी नहीं है।

पहलू–ए–ज़म– जब किसी शेर में किसी ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसके अपने असली मतलब के अलावा कोई कुरुचिपूर्ण अर्थ निकल सकता हो तो ये दोष पैदा हो जाता है। ये बड़ा गम्भीर दोष है। होशियारी न बरतने पर बड़े–बड़े शायर ग़लती कर जाते हैं। 'अकबर' इलाहाबादी के निम्नलिखित शेर में ये पहलू पैदा हो गया है, यद्यपि सन्दर्भ में कोई अश्लीलता नहीं है—

पतलून में वो तन गया ये साये में फैली
पाजामा ग़रज़ ये है कि दोनों ने उतारा

इब्तज़ाल– जब किसी शेर में ऐसे शब्द या मुहावरे का प्रयोग होता है, जो पढ़े–लिखे लोग नहीं बल्कि बाज़ारू लोग बोलते हैं तो ये दोष पैदा हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि शेर में कोई ऐसा चित्र उभरता है, जिससे सुरुचि को ठेस पहुँचती है तो शेर भी मुब्तज़ल(जिसमें इब्तज़ाल हो) हो जाता है।

सुस्त बन्दिश– सिर्फ़ वज़्न पूरा करने के लिए जब बहुत से 'के', 'ये', 'पर', 'तो', 'भी' आदि भर दिये जाते हैं तो शेर में कसाव या चुस्ती नहीं रहती है। उदाहरणार्थ—

वो पहली जंगे–आज़म की तो पढ़ले हिस्टरी अपनी
फिर इसके बाद तू शेख़ी बघार ऐ जर्मनी अपनी

इसमें पहले मिस्र्‌े में 'वो' और दूसरे में 'फिर' तथा 'अपनी' बिल्कुल बेकार आये हैं।

हश्व–ओ–ज़वायद– जब शेर में कोई ऐसा शब्द लाया जाता था, जिसे निकाल देने से अर्थ या प्रभाव में कोई अन्तर न पड़े तो ये दोष पैदा हो जाता है। संज्ञाओं, क्रियाओं, विशेषणों आदि का बेकार प्रयोग हश्व पैदा कर देता है।

तवाली–ए–इज़ाफ़त– जब किसी मिस्र्‌े में उर्दू के 'का', 'की', 'के' या

फ़ार्सी के सम्बन्ध कारक 'ए' का प्रयोग लगातार चार-बार या उससे अधिक बार किया जाये तो ये दोष उत्पन्न हो जाता है—

मिस्सी आलूदा सर-अंगुश्ते-हसीना लिखिए
दाग़े-तरफ़े-जिगरे-आशिक़े-शैदा कहिए

दूसरे मिसरे में लगातार चार-बार फ़ार्सी की अलामते-इज़ाफत का प्रयोग किया गया हो।

शुतुरगुर्बा- पहले ज़माने में ये दोष नहीं माना जाता था, लेकिन 'दाग़' ने इसे दोष माना है और उनके बाद और लोग भी मानने लगे हैं। किसी शेर के एक मिस्रे में 'आप' या उससे सम्बद्ध सर्वनाम हों और दूसरे में 'तुम' या 'तू' से सम्बद्ध सर्वनाम हों तो ये दोष पैदा हो जाता है। आज की उर्दू-कविता के लिए ये दोष बड़ा गम्भीर माना जाता है और इसे क्षमा नहीं किया जाता है।

फ़क्के-इज़ाफ़त- जहाँ फ़ार्सी क़ायदे से इज़ाफ़त(सम्बन्ध कारक) ज़रूरी हो और शेर के वज़्न का ख़याल करके किसी फ़ार्सी शब्द-विन्यास की अलामते-इज़ाफ़त ख़त्म कर दी जाये तो ये दोष उत्पन्न हो जाता है। ये भी गम्भीर दोष माना जाता है और कच्चेपन की दलील है।

ईता-ए-जली- जब दो क़ाफ़िये ऐसे लाये जायें, जिनमें बादवाला टुकड़ा तो एक ही हो लेकिन पहले के टुकड़े समस्वर न हों, यानी उनके अन्तिम स्वर एक से न हों तो क़ाफ़िये में ईता-ए-जली का दोष आ जाता है। जैसे 'हाज़तमन्द' और 'दौलतमन्द' का क़ाफ़िया ठीक है, किन्तु 'दर्दमन्द' और 'दौलतमन्द' का क़ाफ़िया ठीक नहीं है। किन्तु 'दर्दमन्द' और 'दिलपसन्द' के क़ाफ़ियों में ये दोष नहीं है। कारण ये है कि 'मन्द' और 'पसन्द' भी समस्वर हैं और 'हाज़त' तथा 'दौलत' भी समस्वर हैं, लेकिन 'दर्द' और 'दौलत' में— जो 'दर्दमन्द' और 'दौलतमन्द' के प्रथम भाग हैं— आपस में कोई साम्य नहीं है। उर्दू-काव्य में ईता-ए-जली बड़ा गम्भीर दोष माना जाता है।



कृष्ण कुमार 'नाज़'
सी-130, हिमगिरि कालोनी,
काँठ रोड, मुरादाबाद-244001
मोबाइल- 09927376877

कृष्ण कुमार 'नाज़' ने हिन्दी-ग़ज़ल के सन्दर्भ में प्रसिद्ध शायर कृष्ण बिहारी 'नूर' पर शोध-कार्य किया है। इनके द्वारा अलग-अलग विषयों पर लिखित और सम्पादित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके द्वारा कही गयी ग़ज़लों के संग्रह '21वीं सदी के लिए' (1998), 'गुनगुनी धूप' (2002) तथा 'उगायें फिर नया सूरज' (2013) प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त ये विभिन्न प्रकार के सम्पादन और लेखन-कार्य करते रहते हैं। ग़ज़ल के सम्बन्ध में इनकी प्रतिभा- कारयित्री और भावयित्री- दोनों ही स्तरों पर सक्रिय है। सम्प्रति ये गन्ना विभाग, मुरादाबाद में कार्यरत हैं।

ग़ज़ल की उत्पत्ति और उसके विकास पर इनका जो लेख यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, उससे सहज ही इनके शोधपरक दृष्टिकोण का अनुमान किया जा सकता है। ग़ज़ल का विकास बयान करने के लिए अत्यन्त विस्तार में जाने की आवश्यकता होगी, लेकिन 'नाज़' साहब ने स्थान संकोच के कारण उसे अतिसंक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है।

कृष्ण कुमार नाज़

ग़ज़ल की विकास-यात्रा

उद्‌भव : ग़ज़ल की व्युत्पत्ति को लेकर अनेक मत हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि अरब में ग़ज़ल नाम का एक कवि था, जिसने सारी आयु प्रेम, मस्ती और विलासिता में ही बितायी। उसकी कविताओं का वर्ण्य विषय प्रेम हुआ करता था। इसीलिए कालान्तर में उसकी प्रेमपरक कविताओं को ग़ज़ल की संज्ञा दी गयी, जबकि कुछ विद्वान् फ़ार्सी के शब्द 'ग़ज़ाला' से ग़ज़ल का सम्बन्ध मानते हैं, जिसका अर्थ है हिरन; और उसके बच्चे को ग़ज़ाला कहा जाता है। इसीलिए सम्भव है कि 'ग़ज़ाला' से ही ग़ज़ल शब्द बना हो। फ़ार्सी के शब्द 'ग़ज़ल' का अर्थ मृगनयनी भी है। इसलिए ये भी सम्भव है कि हिरनी जैसे नेत्रोंवाली सुन्दरियों के सम्बन्ध में लिखी गयी छन्दोबद्ध प्रेम कविताएँ ही ग़ज़ल कही जाने लगी हों।

ये भी माना जाता है कि ग़ज़ल विधा का जन्म दसवीं शताब्दी में ईरान के रौदकी नामक नेत्रहीन कवि ने दिया। कहा जाता है कि एक बार रौदकी तत्कालीन बादशाह के साथ किसी युद्ध में गया था। वहाँ की व्यस्तताओं में बादशाह ऐसा घिरा कि उसे घर लौटने का ख़याल ही नहीं रहा। कुछ समय बाद बसन्त ऋतु के आगमन पर चारों ओर फूल खिलने लगे तथा उनसे निकली सुगन्ध ने वातावरण को महका दिया तो रौदकी के हृदय से अनायास ही कविता फूट पड़ी। उसकी कविता सुनकर बादशाह को भी घर की याद आयी और वो अपने देश लौट आया। इस प्रकार की कविताएँ ही कालान्तर में ग़ज़ल कहलायीं।

यहाँ एक बात और सामने आती है कि अरबी-साहित्य में 'क़सीदा' नामक काव्य-विधा है। इसकी आरम्भिक चार-छः पंक्तियों को 'तश्‌बीब' कहा जाता था। 'तश्‌बीब' को प्रणयगीत भी कहा गया है। कालान्तर में अरबों का 'क़सीदा' ईरान पहुँचा। ईरान के शायरों को 'क़सीदे' की 'तश्‌बीब' बहुत पसन्द आयी और उन्होंने 'क़सीदे' से 'तश्‌बीब' को अलग कर दिया। इसी 'तश्‌बीब' की देन ग़ज़ल है। ईरान की 'चामा' नामक काव्य-विधा से भी ग़ज़ल का सम्बन्ध बताया जाता है। इससे ये तथ्य तो स्पष्ट हो जाता है कि ग़ज़ल का उद्‌भव 'क़सीदे' से अलग हुए अंश 'तश्‌बीब'— जिसमें प्रेम, बसन्त-बहार, शृंगाररस, शराब,



सौन्दर्य का वर्णन होता था— से ही हुआ है। चूँकि ग़ज़ल सामन्ती युग की देन है और हमें ये स्वीकार करने में भी संकोच नहीं होना चाहिए कि सामन्ती युग में कला की अनेक विधाओं को प्रश्रय मिला, चाहे उसका उद्देश्य विलासिता ही क्यों न रहा हो, लेकिन नृत्य, गायन, नाटक, चित्रकारी, कविता आदि कलाएँ सामन्ती युग में ख़ूब फली-फूलीं। दरबारों से जुड़ी ग़ज़ल ने शराब-शबाब, आशिक़ी, जाम-पैमाना, फूल-तितली आदि का मनोरंजक वर्णन किया, क्योंकि तत्कालीन ग़ज़ल का उद्देश्य ही राजदरबारों का मनोरंजन करना था। इस मनोरंजन सामग्री को लेकर ग़ज़ल ने जब सूफ़ी-सन्तों की दरगाहों में प्रवेश किया तो ये भक्तिभाव और अध्यात्म का माध्यम बन गयी। ग़ज़ल में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। अब ये इश्क़े-मिज़ाजी(सांसारिक प्रेम) से हटकर इश्क़े-हक़ीक़ी(पारलौकिक प्रेम) की ओर मुड़ गयी। फ़ार्सी की ये विधा भारत में प्रवेश करते-करते आध्यात्मिक हो गयी थी। भारत की जलवायु इसके अनुकूल होने के कारण इसने यहाँ पाँव पसार लिए और हिन्दी-उर्दू दोनों भाषाओं में इसकी अभिव्यक्ति होने लगी। यद्यपि भारत में भी शुरूआती ग़ज़ल प्रेम, इश्क़-आशिक़ी, फूल-तितली, जाम-पैमाना और अध्यात्मवाद से जुड़ी रही, लेकिन वर्तमान ग़ज़ल अपने पूर्व निर्धारित कथन से अलग होकर जनवाद की ओर आ गयी है। आज की ग़ज़ल में कन्धे पर हल ले जाते उस किसान की चिन्ता भी है जिसको कड़ी मेह्नत करने के बाद भी दो जून की रोटी सुविधाजनक ढंग से मयस्सर नहीं, आज की ग़ज़ल ने पसीने में तर-बतर उस मज़दूर को भी प्रश्रय दिया है, जो सुबह से शाम तक मेह्नत-मशक़्क़त करने के बाद भी चैन से परिवार का पालन-पोषण नहीं कर पाता। आज की ग़ज़ल ने दुख और निराशा में डूबे मानव को आशाओं की लोरियाँ सुनाकर उसके होठों को मुस्कान प्रदान की है। आज की ग़ज़ल ने उद्देश्यविहीन और स्वार्थलोलुप राजनीति पर जमकर प्रहार किया है। यानी हुस्न, इश्क़, शराब, शबाब में रँगी-पुती ग़ज़ल ने सूफ़ी-सन्तों की शरण में जाकर अध्यात्मवाद का गुणगान किया और आज जनमानस के बीच पहुँचकर उसके ज़ख़्मों पर मरहम लगाने का कार्य कर रही है।



विकास : ये तो सर्वज्ञात है कि ग़ज़ल का उद्भव भारत में नहीं हुआ, बल्कि ये आयातित विधा है। इसका अंकुरण फ़ार्सी-भाषा में हुआ, तदनन्तर ये उर्दू-भाषा में आयी। उर्दू के कवियों ने इसका पालन-पोषण किया और इसके साहित्य-भण्डार को निरन्तर समृद्ध किया। 'ग़ज़ल' चूँकि अरबी-भाषा का शब्द है, इसलिए कुछ लोगों का मानना है कि इसका उद्भव अरबी-भाषा में हुआ, लेकिन वास्तविकता ये है कि वहाँ इसका स्वरूप ग़ज़ल का न होकर 'तश्बीब' का था। 'क़सीदे' का ये अंश 'तश्बीब' ईरान के कवियों को बेहद पसन्द आया और उन्होंने इसे अपना लिया। कालान्तर में उसे ग़ज़ल कहा गया। यानी ग़ज़ल का उद्भव फ़ार्सी में हुआ। फ़ार्सी में ग़ज़ल का वर्ण्य विषय केवल प्रेम, श्रृंगार, जाम-पैमाना तक ही सीमित रहा। लेकिन जब ग़ज़ल विलासिता और कामवासना की जकड़बन्दी में बँधी तो

इसमें परिवर्तन की आावश्यकता मह्सूस हुई। तब फ़ार्सी–कवियों ने इसमें आध्यात्मिकता और दर्शन का समावेश किया, परिणामस्वरूप फ़ार्सी–साहित्य में ग़ज़ल बहुत समृद्ध हुई।

सुप्रसिद्ध फ़ार्सी–कवि शेख़ 'सादी' शीराज़ी मह्बूब की तुलना 'सर्व' नामक एक विशेष प्रकार के पेड़ से करते हैं, जो औसत लम्बाई का पतला, सफ़ेद, सीधा और सुन्दर होता है। शेर द्रष्टव्य है—

सर्व बालाई व सहरा मी रवद
रफ़्तनश बीं ता चे ज़ीबा मी रवद
मी रवद दर राहो–दर अज़्ज़ाइ ख़ाक
मुर्दा मीगो यद मसीहा मी रवद[1]

शेख़ 'सादी' कहते हैं कि उनका मह्बूब सहरा की तरफ़ जा रहा है। वो इतने ख़ूबसूरत अन्दाज़ से चल रहा है कि उसकी चाल मनोहारी लग रही है। उसको जाते देखकर ज़मीन में सोया हुआ मुर्दा जाग उठता है और कहता है कि— देखो! मसीहा जा रहा है। उसे देखकर अब हमें नयी ज़िन्दगी मिल जायेगी।

अमीर ख़ुसरो की ग़ज़लों में जहाँ प्रकृति–प्रेम झलकता है, वहीं वे आध्यात्मिकता और अलौकिक प्रेम से भी ओतप्रोत हैं। शेर द्रष्टव्य हैं—

रसीदे–बादे–सबा ताज़ा कर्द जाने–मरा
नहुफ़्ता दाद ब मन बू–ए–दिल सिताने–मरा
मरा गुज़र व गुलिस्ताँ बसीस्त लेक चे सूद
कि सू–ए–मन नज़रे–नीस्त गुलसिताने–मरा[2]

ख़ुस्रो कहते हैं कि सुबह की ठण्डी और ताज़ा हवा ने मेरे पास पहुँचकर मेरी जान और आत्मा को सुगन्धित कर दिया। ऐसा लगा जैसे उसने चुपके से आकर मेरे मह्बूब की ख़ुश्बू मुझे सौंपी हो। 'गुलशन' प्रतीक के माध्यम से वो कहते हैं कि मह्बूब की गलियों से मेरा अक्सर गुज़रना होता है, लेकिन कोई लाभ नहीं, उसने एक बार भी मुझे नज़र उठाकर नहीं देखा। इराकी हम्दानी की ग़ज़लें अलौकिक प्रेम का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनके कुछ शेर द्रष्टव्य हैं—

नख़ुश्तीं बादा कन्दर जाम करदन्द
ज़े चश्मे–मस्ते–साक़ी दाम करदन्द
चूँ बाख़ुद याफ़तन्द अहले–तरब रा
शराबे–बेख़ुदी दरजाम करदन्द[3]

वो कहते हैं कि पहले तो जाम में शराब डाली गयी और फिर उसका नशा बढ़ाने के लिए साक़ी की मस्त आँखों से नशा उधार लेकर जाम में मिला दिया गया। उसके बाद भी जब रिन्दों को होशो–हवास में पाया तो उन्हें मदहोश करने के लिए उनके प्यालों में बेख़ुदी की

शराब डाली गयी। फ़ार्सी–कवि सलमान सावजी ने अपनी ग़ज़लों में मह्बूब के सौन्दर्य का अद्‌भुत वर्णन किया है। उनके शेर उद्धृत हैं–

बेया कि बेलबे–लाले तू कारे–मन ख़ाम अस्त
ज़े अक्से–रू–ए–तू आतश फ़ितादा दर जाम अस्त
मरा कि चश्मे–तू बख़्त अस्त, बख़्तदर ख़्वाब अस्त
तुरा कि ज़ुल्फ़े–तू शाम अस्त, सुब्ह दर शाम अस्त [4]

वो अपने प्रिय को याद करते हुए उसे पुकारते हैं कि– ऐ मह्बूब तू आ जा, क्यूँकि तेरे सुर्ख़ होंठों के बग़ैर मेरा मक़्सद कच्चा और अधूरा है। तेरे सुर्ख़ चेह्रे की परछाईं से ही ऐसा लगता है कि जैसे जाम में अंगारा डाल दिया गया हो। वो कहते हैं कि– ऐ मह्बूब तेरी आँख मेरा नसीब है, जो कि अभी स्वप्न में है यानी सोया हुआ है। तेरी ज़ुल्फ़ शाम की तरह है और चेह्रा सुबह की भाँति है, जो ज़ुल्फ़ों में छिपा हुआ है, अर्थात् तेरी सुब्ह, तेरी शाम की क़ैद में है। ख़्वाजा हाफ़िज़ शीराज़ी का कलाम अलौकिक प्रेम से परिपूर्ण है। उनके शेर द्रष्टव्य हैं–

फ़ाश मी गूयमो अज़ गुफ़्त–ए–ख़ुद दिल शादम
बन्द–ए–इश्क़मो अज़ हर दोजहाँ आज़ादम
तायरे–गुलशने–क़ुद्‌सम चे देहम शर्हे–फ़िराक़
कि दरीं दाम गहे हादिसा चूँ उफ़्तादम [5]

वो कहते हैं कि मैं तो इश्क़ का बन्दा हूँ और दोनों जहाँ से बिल्कुल आज़ाद हूँ। न मुझे इस दुनिया की चिन्ता है और न उस जहान की फ़िक्र। वो आगे कहते हैं कि मैं पवित्र वातावरणवाले गुलशन का पक्षी हूँ। उस गुलशन से अलग होने की स्थितियों का बयान किस तरह करूँ। मैं ये किस प्रकार बताऊँ कि इस हादसों से भरी दुनिया के जाल में मैं किस प्रकार बन्दी बना लिया गया। फ़ार्सी–कवि अबू तालिब कलीम की ग़ज़लों में आध्यात्मिकता के दर्शन होते हैं। उनके दो शेर प्रस्तुत हैं–

पीरी रसीदो–मस्ती–ए–तब–ए–जवाँ गुज़श्त
जोफ़े तन अज़ तहम्मुले–बारे गिराँ गुज़श्त
वज़–ए–ज़माना क़ाबिले–दीदन दुबारा नीस्त
रू पस न कर्द हर कि अज़ीं ख़ाकदाँ गुज़श्त [6]

वो कहते हैं कि बुढ़ापा आ गया है और इसी के साथ जवान तबीयत की मस्ती ख़त्म हो गयी है। कमज़ोरी इतनी हो गयी है कि शरीर कोई भी भारी बोझ उठाने के क़ाबिल नहीं रहा। वो आगे कहते हैं कि ज़माने के हालात इतने ख़राब हैं कि दोबारा देखने लायक़ नहीं हैं। इसीलिए जो इस दुनिया से चला गया, उसने कभी इधर मुड़कर नहीं देखा।

उक्त विवरण से पता चलता है कि फ़ार्सी–भाषा में ग़ज़ल का आरम्भ रौदकी के साथ हुआ। तत्पश्चात दकीकी, वाहिदी, निज़ामी, कमाल, बेदिल, फ़ैज़ी, शेख़

सादी, अमीर ख़ुस्रो, इराकी हम्दानी, सलमान सावजी, हाफ़िज़ शीराज़ी, अबू तालिब कलीम, उर्फ़ी, नज़ीरी नीशापुरी, साक़िब, सिफ़ाई सफ़ाहानी आदि फ़ार्सी-कवियों ने ग़ज़ल को समृद्ध किया, लेकिन फ़ार्सी में ग़ज़ल के प्रवर्द्धन का श्रेय मुख्यत: तीन कवियों— शेख़ सादी, अमीर ख़ुस्रो और हाफ़िज़ शीराज़ी को जाता है। इसके बाद लगभग डेढ़सौ साल तक फ़ार्सी-ग़ज़ल के क्षेत्र में ख़ामोशी छा गयी। बाद में ये परम्परा फिर से जीवन्त हो उठी और आज भी फ़ार्सी में ग़ज़लें कही जा रही हैं।

उस काल में जब उर्दू-भाषा फ़ार्सी एवं हिन्दी के मिलाप से बन रही थी, तब अमीर ख़ुस्रो ने ग़ज़लें कहीं। इनकी ग़ज़लों की भाषा को न तो उर्दू ही कहा जा सकता है और न ही हिन्दी, लेकिन उनकी यहाँ प्रस्तुत ग़ज़ल उर्दू-भाषा के प्रारम्भिक विकास-क्रम का सुन्दर उदाहरण है—

ज़े हाले-मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल दुराये नयना बनाये बतियाँ
कि ताबे-हिज्राँ न दारमे-दिल न लेहू काहे लगाये छतियाँ
चू शम्अ सोज़ाँ, चू ज़र्रा हैराँ, हमेशा गिरियाँ ब इश्क़े-आँ मह
न नींद नैना, न अंग चैना, न आप आवे न भेजे पतियाँ
शबाने-हिज्राँ दराज़ चू ज़ुल्फ़ बरोज़े-वस्लत चू उम्र कोतह
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ [7]

काल-विभाजन : फ़िराक़ गोरखपुरी ने अपनी पुस्तक 'उर्दू भाषा और साहित्य' में उर्दू-काव्य के इतिहास को निम्नलिखित प्रकार विभाजित किया है—

1. दक्षिण देशीय काव्य
2. दिल्ली में उर्दू-काव्य का विकास
3. लखनवी कविता
4. दिल्ली की मध्यकालीन कविता
5. दरबारों के बचे-खुचे प्रभाव
6. सामाजिक चेतना और नयी कविता
7. ग़ज़ल का पुनरुत्थान
8. प्रगतिवादी युग

उक्त के अतिरिक्त बाबू ब्रजरत्नदास ने सन् **1934** में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'उर्दू-साहित्य का इतिहास' में निम्न प्रकार काल-विभाजन का उल्लेख किया है [8]—

1. उर्दू-साहित्य का दक्षिण में आरम्भ
2. दिल्ली-साहित्य का दक्षिण में आरम्भ
3. दिल्ली-साहित्य केन्द्र का पूर्व मध्यकाल
4. दिल्ली-साहित्य केन्द्र का उत्तर मध्यकाल



5. दिल्ली–साहित्य केन्द्र का उत्तरकाल
6. लखनऊ–साहित्य केन्द्र : 'नासिख़' और 'आतिश'
7. लखनऊ–साहित्य केन्द्र : मर्सिये और मर्सियागो
8. उर्दू–साहित्य के अन्य केन्द्र
9. उर्दू–साहित्य का वर्तमानकाल

कुछ विद्वानों ने उर्दू–ग़ज़लों का दो खण्डों में काल–विभाजन किया—

1. प्राचीनकाल
2. अर्वाचीनकाल

जबकि कुछ अन्य विद्वानों और समालोचकों ने इसे चार खण्डों में विभाजित किया है—

1. प्राचीनकाल (दक्षिण केन्द्र के शायरों से 'ख़ान आर्ज़ू' तक)
2. मध्यकाल ('सौदा' से 'दाग़' देहलवी तक)
3. आधुनिककाल ('हाली' से 'जिगर' तक)
4. अत्याधुनिककाल (सन् 1960 ई. से अब तक)

भारत में ग़ज़ल की यात्रा लगभग चार सौ वर्ष पुरानी है। ग़ज़ल फ़ार्सी से उर्दू में आयी है तथा इसने समय–समय पर अनेक परिवर्तनों को स्वीकार किया है। उर्दू–ग़ज़ल का प्रारम्भिक काल दक्षिण केन्द्र के शायरों से लेकर वली और ख़ान आर्ज़ू तक फैला हुआ है। इस काल में शाह मीरानजी, शाह बरहानुद्दीन जानम, मुहम्मद कुली कुतुबशाह, सुल्तान मुहम्मद कुतुबशाह, इब्ने निशाती, वजही, सुल्तान अबुल हसन, फ़ाइज़, बहरी आदि से लेकर वली, सिराज, ख़ान आर्ज़ू, फ़ुग़ाँ, शाह हातिम, मज़हर, अब्दुल हई 'ताबाँ', यक़ीन तथा मज़्मून आदि शायर आते हैं।

मध्यकाल में सौदा, दर्द, सोज़, मीर, हसन, नज़ीर, आतिश, ज़फ़र, ज़ौक़, ग़ालिब, मोमिन, अमीर मीनाई, दाग़ आदि आते हैं। इनके अलावा जुरअत, मुस्हफ़ी, इंशा, शाह नसीर, नासिख़, तिश्ना, सबा, वज़ीर, शेफ़्ता, असीर, निज़ाम रामपुरी, नवाब वाजिद अली शाह, अख़्तर, दयाशंकर नसीम आदि शायर भी इसी युग की देन हैं।

आधुनिक काल में हाली, जोश मल्सियानी, त्रिलोकचन्द्र 'महरूम', चौधरी जगतलाल 'रवाँ', अकबर इलाहाबादी, शाद अज़ीमाबादी, साक़िब लखनवी, डॉ. इक़्बाल, हस्रत मोहानी, फ़ानी बदायुँनी, चकबस्त, असग़र गोंडवी, जिगर मुरादाबादी, फ़िराक़ गोरखपुरी, मजाज़ लखनवी, फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' आदि शायर आते हैं। इनके अतिरिक्त आज़ाद, नज़्म तबातबाई, रियाज़ ख़ैराबादी, सफ़ी लखनवी, नसीम देहलवी, यगाना चंगेज़ी, फ़ानी बदायुँनी, मुनव्वर लखनवी, अम्न लखनवी, आनन्दनरायन मुल्ला, हरीचन्द अख़्तर, जोश मलीहाबादी, हफ़ीज़ जालन्धरी, साग़र निज़ामी, ताबाँ आदि शायर भी इसी युग में पैदा

हुए। इनमें कुछ शायर ऐसे भी हैं जो भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् भी जीवित रहे हैं और ग़ज़लें कहते रहे हैं।

अत्याधुनिक–काल में ग़ज़लकारों ने जहाँ परम्परागत ग़ज़लें कहीं, वहीं ग़ज़ल की भावभूमि में नये प्रतीक और बिम्ब भी शामिल हुए। चूँकि फ़िराक़ गोरखपुरी ने अत्याधुनिक काल की ग़ज़लों को भी प्रभावित किया है और आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने उल्लेखनीय कार्य किया, इसीलिए हम चाहते हैं कि उन्हें अत्याधुनिक काल में भी सम्मिलित किया जाये। परम्परागत ग़ज़लकारों में कृष्णबिहारी 'नूर', दिवाकर राही, गौहर उस्मानी, क़ैसर–उल–जाफ़री, वसीम बरेलवी, मख़्दूम मुहीयुद्दीन अबू हसन गुन्नौरी, अफ़सर मेरठी, निहाल स्योहारवी, जगन्नाथ आज़ाद, जज़्बी, प्रो. आले अहमद सुरूर, अब्दुल हमीद अदम, अन्दलीब शादानी, मख़्मूर सईदी, आबिद, बेख़ुद लखनवी, रविश सिद्दीक़ी, अमीक़ हन्फ़ी, डॉ. सागर आज़मी, शमीम जयपुरी, फ़ना कानपुरी, क़मर जलालाबादी, शकील बदायुँनी, अनवर मिर्ज़ापुरी, मलिकज़ादा मंज़ूर अहमद आदि शायर हैं। इस काल के प्रगतिशील शायरों में बेकल उत्साही, ज़फ़र गोरखपुरी, डॉ. बशीर बद्र, सरदार जाफ़री, साहिर लुधियानवी, मजरूह सुल्तानपुरी, मुनीर नियाज़ी, जाँ निसार अख़्तर, कैफ़ी आज़मी, ख़लीलुर्रहमान आज़मी, निदा फ़ाज़ली, शहरयार, ज़फ़र इक़्बाल, मज़हर इमाम, मुज़फ़्फ़र हन्फ़ी, जावेद अख़्तर, डॉ. निर्मल दर्शन, सलीम अहमद, शीन काफ़ निज़ाम, मंज़ूर हाशमी, अनीस अंसारी, शुजा ख़ावर, आशुफ़्ता चंगेज़ी आदि सैकड़ों शायर हैं। यहाँ ये भी उल्लेखनीय है कि अत्याधुनिक काल के पारम्परिक शायरों ने प्रगतिशील तेवर की ग़ज़लें भी कहीं, जबकि जदीद और तरक़्क़ीपसन्द शायर ग़ज़ल की परम्पराओं से भी कहीं–न–कहीं जुड़े रहे।

ग़ज़ल पर हिन्दी–साहित्य का प्रभाव : ऐसा नहीं है कि पूर्वकालीन शायरों ने अपनी ग़ज़लों में सिर्फ़ उर्दू–फ़ारसी के ही शब्दों का प्रयोग किया। वे भी कहीं–न–कहीं हिन्दी–साहित्य से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने भी हिन्दी–भाषा के शब्दों का भरपूर इस्तेमाल किया। वास्तविकता तो ये है कि शेर कहने के लिए भाषाई क्लिष्टता की नहीं, बल्कि कथ्य को सलीक़े के साथ शब्दों में पिरोने की आवश्यकता है। साहित्यिक इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि जिन साहित्यकारों ने जनमानस की भाषा में साहित्य–सर्जन किया, उन्होंने ही ख्याति प्राप्त की। ग़ालिब फार्सी–भाषा में शेर कहते थे और उर्दू में काव्य–रचना को दोयम दर्जे की समझते थे। बाद में उन्हें भी उर्दू में आना पड़ा और उर्दू–ग़ज़लों से ही उनको प्रसिद्धि मिली। यदि वो फ़ार्सी तक ही सीमित रहते, तो कितने लोग उनको जान पाते ? यही कारण है कि आज उर्दू–ग़ज़ल पर हिन्दी–साहित्य और भाषा का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

अपनी पुस्तक 'उर्दू–भाषा और साहित्य' में फ़िराक़ गोरखपुरी ने हिन्दी शब्दों को प्रयोग करने की शैली को उर्दू कहा है। उनके अनुसार— "ये समझना भ्रम होगा कि हिन्दी

शब्दों में केवल अरबी और फ़ारसी शब्दों को मिला देने से उर्दू बनी है। शत–प्रतिशत हिन्दी शब्दों से भी बनी हुई उर्दू गद्य और कविता की किताबें मिलती हैं। इन किताबों में एक भी अरबी–फ़ारसी का शब्द नहीं है। वस्तुत: खड़ीबोली हिन्दी को एक विशेष ढंग से या एक विशेष शैली में प्रयोग करना उर्दू है।'' फ़िराक़ ने अपने कथन की पुष्टि में उर्दू के स्वनामधन्य कवियों के शेर भी दिए हैं। कुछ शेर निम्नलिखित प्रकार के हैं—

तारा टूटते सबने देखा, ये नहीं देखा एक ने भी
किसकी आँख से आँसू टपका, किसका सहारा टूट गया

— आर्ज़ू लखनवी

झिलमिल–झिलमिल तारों ने भी पायल की झन्कार सुनी थी
चली गयी वो छम–छम करती पिया मिलन की रात कहाँ

— फ़िराक़ गोरखपुरी

बिगड़ें न बात–बात पे क्यूँ जानते हैं वो
हम वो नहीं कि जिसको मनाया न जायेगा

— हाली

वो नहीं भूलता जहाँ जाऊँ
हाय मैं क्या करूँ कहाँ जाऊँ

— नासिख़

बात भी पूछी न जायेगी जहाँ जायेंगे हम
तेरी चौखट से अगर उट्ठे कहाँ जायेंगे हम

— मह्शर लखनवी

रात चली है जोगन होकर
ओस से अपने मुँह को धोकर

— शाद अज़ीमाबादी

ये जो महन्त बैठे हैं दुर्गा के कुण्ड पर
अवतार बन के कूदेंगे परियों के झुण्ड पर

— इंशा

बोझ वो सर से गिरा है कि उठाये न उठे
काम वो आन पड़ा है कि बनाये न बने

— ग़ालिब

किस तरह बन मैं आँख के तारे को भेज दूँ
जोगी बना के राजदुलारे को भेज दूँ

— चकबस्त

तेरी चाल टेढ़ी, तेरी बात उल्टी
तुझे 'मीर' समझा है याँ कम कसू ने — मीर

फ़िराक़ गोरखपुरी कहते हैं कि ये बहुत थोड़े से उदाहरण हैं और ऐसे बीसों हज़ार उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिससे ये बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी-शब्दों को एक विशेष ढंग से बोलने या लिखने का नाम उर्दू है। ये ढंग या शैली ही उर्दू-भाषा की आधारशिला है। यही वो ढंग है, जिसे हम उर्दू का साँचा कह सकते हैं।[10]

फ़िराक़ साहब के उक्त बयान से ये तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उक्त शेरों को यदि पर्सियन लिपि में न लिखकर देवनागरी में लिख दिया जाये और शायर का नाम न लिखा जाये तो पता ही नहीं चल पायेगा कि ये शेर प्रसिद्ध उर्दू-शायरों द्वारा लिखे गये हैं। यानी उर्दू-फ़ार्सी शब्दों का प्रयोग ग़ज़ल का आवश्यक तत्त्व नहीं हैं।

ग़ज़ल जब तक दरबारों में रही, तब तक उस पर उर्दू-फ़ार्सी की क्लिष्टता का प्रभाव रहा है, लेकिन जब वह आम आदमी के बीच आयी तो वो बहुत आसान हो गयी। इसमें सबसे बड़ा योगदान रहा मुशायरों और हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का। मुशायरे के मंच पर आकर शायरों नें उसी भाषा का प्रयोग करना शुरू किया जो आम आदमी बोलता है, क्योंकि मुशायरे का परिणाम तो शायर को तत्काल ही मिल जाता है। मुशायरे के परिणाम की तीन श्रेणियाँ हैं— दाद अथवा तालियाँ, ख़ामोशी और हूटिंग। यदि शायर ने जनभाषा का प्रयोग करते हुए अच्छे शेर कहे हैं, तो श्रोता भी तत्काल दाद देकर और वाहवाही कर उसे सिर-आँखों पर बैठा लेते हैं। शेर कुछ ठीक-ठाक हुए तो ख़ामोशी अख़्तियार कर लेते हैं, और भाषा की क्लिष्टता के कारण यदि श्रोताओं की समझ में शेर नहीं आये तो तत्काल हूटिंग कर शायर को अपमानित कर दिया जाता है। अत: हूटिंग से बचने के लिए शेर कहते समय शायरों के मस्तिष्क में श्रोताओं की भीड़ का दृश्य भी रहता है, इसीलिए वे जनसाधारण की हिन्दी मिश्रित सीधी-सादी भाषा का प्रयोग करते हैं।

इसके अतिरिक्त जब से ग़ज़ल जनसाधारण के बीच पहुँची और उसकी लोकप्रियता का ग्राफ बढ़ा, तब से पत्र-पत्रिकाओं ने भी उसे पर्याप्त स्थान दिया। ग़ज़ल ने प्रेम की भावाभिव्यक्ति के साथ ही जनसाधारण की तक्लीफ़ों, पूँजीपतियों द्वारा मज़्दूर वर्ग का शोषण, लोगों की ज़रूरतों और जनसामान्य से जुड़े सभी पहलुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया तथा इन स्थितियों ने भी ग़ज़ल को हिन्दी के निकट लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। आज उर्दू के प्रख्यात शायर भी उर्दू-फ़ार्सी के कठिन शब्दों से परहेज़ करने लगे हैं। आज की उर्दू-ग़ज़ल की भाषा न तो क्लिष्ट उर्दू-फ़ार्सी है और न ही संस्कृतनिष्ठ हिन्दी। शायरों ने मध्य का रास्ता निकाला, जिसे हिन्दुस्तानी भाषा का नाम दिया जाता है। इस हिन्दुस्तानी भाषा ने किसी भी भाषा के

शब्दों से परहेज़ नहीं किया; चाहे वो उर्दू हो, चाहे वो फ़ारसी, चाहे हिन्दी, चाहे संस्कृत और चाहे अँग्रेज़ी। हाँ, इतनी सजगता ज़रूर बरती है कि वे शब्द आम बोलचाल के हों। उदाहरण के लिए यहाँ कुछ शायरों के शेर प्रस्तुत हैं—

रात पहले देवी थी, चाँद इक पुजारी था, वक़्त इक भिखारी था
रात अब तवायफ़ है, चाँद इक शराबी है, वक़्त इक लुटेरा है [11]

उक्त शेर में रेखांकित शब्दों पर ध्यान दीजिएगा। इनमें 'देवी' संस्कृत-भाषा का शब्द है, जबकि 'पुजारी' और 'भिखारी' हिन्दी के शब्द हैं। शेर हिन्दुस्तानी भाषा में कहा गया है, इसीलिए सभी की समझ में आसानी से आ जाता है—



जिसके कारन फ़साद होते हैं
उसका कोई अता-पता ही नहीं

धन के हाथों बिके हैं सब क़ानून
अब किसी जुर्म की सज़ा ही नहीं [12]

उक्त शेरों में कवि ने हिन्दी के शब्द 'कारण' और 'धन' का प्रयोग किया है, लेकिन ये शब्द ऐसे हैं, जिन्हें जनसामान्य बोलता भी है, पढ़ता भी है और समझता भी है—

कभी अहसान का बदला नहीं माँगा करते
पेड़ साये का किराया नहीं माँगा करते [13]

उक्त शेर में 'पेड़' शब्द हिन्दी का है, जो जनमानस में प्रचलित खड़ीबोली का है।

ये उसका अपना तरीक़ा है दान देने का
वो जिससे शर्त लगाता है हार जाता है [14]

उक्त शेर में 'दान' शब्द संस्कृत-भाषा का है, जिसे सुशिक्षित वर्ग भी पढ़ता-लिखता-बोलता है और अशिक्षित वर्ग भी—

एक शोला-सा गिरा शीशे से पैमाने में
लो किरन फूटी सबेरा हुआ मयख़ाने में [15]

उक्त शेर में 'सबेरा' हिन्दी-भाषा का शब्द है जो जनसाधारण की भाषा में बोला-समझा जाता है—

हम ऐसे पेड़ हैं जो छाँव बाँटकर अपनी
शदीद धूप में ख़ुद साये को तरसते हैं

मैंने इस ख़ौफ़ से बोये नहीं ख़्वाबों के दरख़्त
कौन जंगल में उगे पेड़ को पानी देगा [16]

उक्त शेरों में रेखांकित शब्द— 'पेड़', 'छाँव', 'बोये', 'जंगल', 'उगे', 'पेड़' और 'पानी'— हिन्दी-भाषा के हैं, जो शेरों में कथ्य की आवश्यकता बने हुए हैं।



जुगनू को दिन के वक़्त परखने की ज़िद करें
बच्चे हमारे अहद के चालाक हो गये [17]

उक्त शेर में 'जुगनू', 'दिन', 'परखने', 'बच्चे' हिन्दी-भाषा के शब्द हैं, जो शेर की आवश्यक आवश्यकता बने हुए हैं। इन शब्दों के स्थान पर यदि उर्दू-फ़ार्सी के शब्दों को रख दिया जाये तो शेर अपनी व्यापकता खो देगा।

सखियों ने मेंहदी से मेरे हाथों पे जो नाम लिखा
कहते हैं चेह्‌रे-मोह्‌रे से अच्छा लड़का लगता है [18]

उक्त शेर में 'सखियों' शब्द यद्यपि संस्कृत-भाषा का शब्द है, लेकिन सुशिक्षित और अशिक्षित वर्गों में प्रचलित है। इसके अतिरिक्त शायरा किसी सूरत से 'सखियों' के स्थान पर 'सहेलियों' शब्द का प्रयोग भी कर सकती थी, लेकिन जो अपनापन और मिठास 'सखियों' में है, वो 'सहेलियों' अथवा इसके किसी अन्य पर्यायवाची शब्दों में कहाँ।

आवागमन की क़ैद से क्या छूटता कभी
वो तेरा प्यार था जो छुड़ा ले गया मुझे [19]

उक्त शेर में 'आवागमन' संस्कृत-भाषा का शब्द है, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति इस शब्द के अर्थों और व्यापकता से परिचित है। यदि 'आवागमन' के स्थान पर उर्दू-फ़ार्सी अथवा किसी अन्य भाषा का कोई समानार्थी शब्द रख दिया जाये तो शेर का सौन्दर्य भी समाप्त हो जायेगा और अर्थों की व्यापकता भी। अत: ये शेर की आवश्यकता बना हुआ है।

क्या सितम करते हैं मिट्‌टी के खिलौनेवाले
बैठे हैं राम को रक्खे हुए रावण के क़रीब [20]

उक्त शेर पढ़ने से ऐसा लगता ही नहीं कि ये शेर उर्दू और ख़ासतौर से मुस्लिम शायर ने लिखा होगा। इस शेर में हिन्दी शब्द भी हैं, हिन्दी-परिवेश भी और हिन्दी-संस्कार भी। यही है भारतवर्ष की साझा संस्कृति, जिस पर हर भारतीय गर्व मह्‌सूस करता है। जहाँ मुस्लिम शायरों और कवियों ने हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा-आराधना की है, वहीं हिन्दू शायरों और कवियों ने मुस्लिम पैग़म्बरों और पीरों-फ़क़ीरों का स्तुतिगान किया है।

अत: उक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान में उर्दू-ग़ज़ल अभिव्यक्ति शैली हिन्दी के अधिक निकट है। यही कारण है कि ग़ज़ल के चाहनेवालों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और हिन्दी के कवियों ने भी इस विधा का स्वागत करते हुए हिन्दी-ग़ज़ल के रूप में इसे अपनाया।



सन्दर्भ—

1. शेख़ सादी : बहारिस्ताने-फ़ार्सी, ख़ानम ज़ाकिरा रईस, पृ.19
2. अमीर ख़ुसरो : वही, पृ. 21
3. इराकी हम्दानी : वही, पृ. 23
4. सलमान सावजी : वही, पृ. 25
5. ख़्वाजा हाफ़िज़ शीराज़ी : वही, पृ. 27
6. अबू तालिब कलीम : वही, पृ. 29
7. अमीर ख़ुसरो : वही, पृ. 21
8. बाबू ब्रजरत्नदास : उर्दू-साहित्य का इतिहास
9. फ़िराक़ गोरखपुरी : उर्दू-भाषा और साहित्य, प्राक्कथन, पृ. 14
10. वही, पृ.17
11. शायर जमाली : रोशनी पाँच सौ चिराग़ों की, सम्पा. कल्पना सक्सेना, पृ.11
12. कृष्णबिहारी 'नूर' : समन्दर मेरी तलाश में है, पृ. 84
13. डॉ. अख़्तर नज़्मी : रोशनी पाँच सौ चिराग़ों की, सम्पा. कल्पना सक्सेना, पृ.16
14. वही, पृ.16
15. ख़ुमार बाराबंकवी : ग़ज़ल 2000, सम्पा. बशीर बद्र, पृ. 17
16. दाराब बानो 'वफ़ा' : वही, पृ. 20
17. परवीन शाकिर : वही, पृ. 23
18. हुमेरा रहमान : वही, पृ. 26
19. कृष्णबिहारी 'नूर' : समन्दर मेरी तलाश में है, पृ. 22
20. नज़ीर बनारसी, रोशनी पाँच सौ चिराग़ों की, सम्पा. कल्पना सक्सेना, पृ. 21





कृष्ण मोहन
187- A, मज़ार के बग़ल, साकेत नगर,
नरिया, वाराणसी- 221005
मोबाइल : 09450114874

कृष्ण मोहन जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्रोफ़ेसर हैं। हिन्दी-आलोचना-जगत् में इनकी पहचान अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण है। कथा-साहित्य की गहन समझ और समीक्षा के साथ-साथ कृष्णमोहन जी उर्दू-शायरी की वैचारिकता को भी विश्लेषित और व्याख्यायित करते रहते हैं। मुक्तिबोध के विश्लेषण पर आधारित किताब 'स्वप्न और संघर्ष' पुरस्कृत हो चुकी है। विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श करती 'आधुनिकता और उपनिवेश' तथा कहानियों पर चर्चा करती 'कहानी समय' जैसी पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

अपने उर्दू-साहित्य के प्रति प्रेम के कारण इन्होंने ग़ालिब की ग़ज़लों की आलोचनापरक व्याख्या प्रारम्भ की है। यहाँ दिया जा रहा लेख उसी सिल्सिले की पहली कड़ी है। ग़ालिब की शायरी का सशक्त वैचारिक पक्ष और अर्थों की बहुआयामी सम्भावनाएँ हिन्दी और उर्दू के आलोचकों के लिए ख़ास तौर से कौतूहल का विषय हैं। आगे भी उम्मीद है कि कृष्णमोहन जी इस व्याख्या-क्रम को हमारी गुज़ारिशों पर 'ग़ज़लकार' के लिए जारी रखेंगे।

कृष्णमोहन

पहचानता नहीं हूँ अभी राहबर को मैं

सताइशगर है ज़ाहिद इस क़दर जिस बाग़े-रिज़्वाँ का
वो इक गुलदस्ता है हम बेख़ुदों के ताक़े-निसियाँ का

तमाम नियम-संयम का पालन करनेवाला ये हमारा मज़हबी आदमी इतनी-सी बात नहीं समझता कि जिस जन्नत के लिए वो इतने कष्ट उठा रहा है, वो प्रेम में हम जैसे आत्मविस्मृत लोगों के लिए एक ऐसे गुलदस्ते की तरह है जिसे हम कहीं रख के भूल गये हैं।

किया आईनाख़ाने का वो नक़्शा तेरे जल्वे ने
करे जो परतवे ख़ुर्शीद आलम शबनमिस्ताँ का

तुम्हारे सौन्दर्य की छवि के पड़ते ही आइनों भरे घर का वही हाल हुआ जो सूरज की किरणों के, ओस से नम धरती पर पड़ने से होता है। जैसे धरती से ओस और नमी ग़ायब हो जाती है, वैसे ही घर के आइने भी ग़ायब हो गये, क्योंकि एक आइने से दूसरे आइने तक केवल तुम्हारी छवि दिखायी पड़ती रही।

महबूब को देखते ही दिल के ग़ायब हो जाने की कल्पना ग़ालिब को बहुत प्रिय है। ये ख़याल आत्मविस्मृति के लिए जगह बनाता है। एक और शेर देखें—

परतवे-ख़ुर से है शबनम को फ़ना की तालीम
मैं भी हूँ एक इनायत की नज़र होने तक

मिरी तामीर में मुज़्मर है इक सूरत ख़राबी की
हयूला बर्क़े-ख़िरमन का है ख़ूने-गर्म देहक़ाँ का

मेरी बनावट में ही मेरी बर्बादी के कारण छिपे हुए हैं। खलियान पर गिरनेवाली बिजली और कुछ नहीं, किसान का गर्म ख़ून है।

पहले मिस्रे में नाश और निर्माण के सम्बन्ध में प्रकृति की द्वंद्वात्मकता का निचोड़ प्रस्तुत हुआ है। दूसरे मिस्रे में किसान के बिम्ब से ग़ालिब की व्यंजना ये भी है कि शौक़ और अभिलाषा के हद से गुज़र जाने पर विपरीत परिणाम मिल सकते हैं। लेकिन इस शेर का

प्रत्यक्ष अर्थ अधिक प्रासंगिक है और ग़ालिब के चिन्तन के लोकतांत्रिक पक्ष को सामने लाता है। गर्म ख़ून का सम्बन्ध श्रमिक वर्ग से है, तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था में जिसके श्रम का मोल नहीं मिलता। ये असंगति किसान को ज़मींदार के ख़िलाफ़ उकसाती है और अपनी ही पैदा की गयी फ़सल(जो ज़मींदार के क़ब्ज़े में है) को नष्ट करने की हद ले जाती है। ग़ालिब यहाँ अपने समकालीन विचारक मार्क्स की तरह सोचते दिखायी पड़ते हैं, क्योंकि दोनों ने श्रमिक–जीवन की इस विषमता को अपने–अपने ढंग से महसूस किया था। पुरानी व्यवस्था का नकार ग़ालिब की शायरी की बुनियादी विशेषता है। ग़ालिब पर आभिजात्य का आरोप लगानेवाले पारम्परिक व्याख्याकार इश्क़ और बेख़ुदी के मुहावरे में व्यक्त होनेवाली चेतना को नहीं समझ सके। आगे चलकर इक़्बाल ने इसे अधिक सक्रिय रूप में पेश किया—

जिस खेत से देह्क़ाँ को मयस्सर न हो रोटी
उस खेत के हर ख़ोशए–गन्दुम को जला दो

उगा है घर में हर सू सब्ज़ा वीरानी तमाशा कर
मदार अब खोदने पर घास के है मेरे दरबाँ का

मेरे घर का हाल ये है कि हर तरफ़ घास–ही–घास उगी हुई है। ऐ निर्जनता, तू ही देख कि तूने इसके साथ क्या किया है। अब हाल ये है मेरे घर का जो द्वारपाल था उसकी पुरानी नौकरी तो चली गयी, क्योंकि घर ही नष्ट होने के कगार पर है, लेकिन घास खोदने का उसे एक नया काम भी साथ–ही–साथ मिल गया।

विषाद की हालत में हँसने की सूरत निकालना ग़ालिब की फ़ित्रत है। 'रहा खटका न चोरी का दुआ देता हूँ रहज़न को' और 'हम बयाबाँ में हैं और घर में बहार आयी है' जैसे कई मिस्र्रे याद आते हैं। इस 'थीम' पर एक शेर ख़ास तौर से देखें—

दिल ख़ुश हुआ है मस्जिदे–वीरान देखकर
मेरी तरह ख़ुदा का भी ख़ानाख़राब है

हनोज़ इक परतवे–नक़्शे–ख़याले–यार बाक़ी है
दिले–अफ़्सुर्दा गोया हुजरा है यूसुफ़ के ज़िन्दाँ का

मेरे मह्बूब की, यादों में बसी सूरत का एक अक्स अब तक मेरे दिल में बचा हुआ है। ऐसा लगता है कि मेरा दिल उस काल–कोठरी जैसा है जिसमें यूसुफ़ को क़ैद किया गया था। यानी, वो अक्स भी मह्बूब की मर्ज़ी के बिना मेरे दिल में है और एक दिन इसे सूना करके चला ही जाएगा।

बग़ल में ग़ैर की आज आप सोते हैं कहीं वर्ना
सबब क्या ख़्वाब में आकर तबस्सुमहाए–पिन्हाँ का

आज ज़रूर मेरा माशूक़ किसी दूसरे आशिक़ के साथ सोया होगा। अगर ऐसा न होता तो मेरे सपने में आकर उसे गुपचुप मुस्कुराने की क्या पड़ी थी। वैसे तो वो सपने में भी मेरे प्रति उदारता नहीं दिखाता। ये भी हो सकता है कि मेरी बर्बादी पर हँसने के ख़याल से आज वो आया हो और मेरा मज़ाक़ बना रहा हो। कुछ भी हो, लेकिन उसका आना ये जताता है कि वो मुझे भूला नहीं है और सितम या करम करने के लिए अब भी मुझे चुनता है।

नहीं मालूम किस-किस का लहू पानी हुआ होगा
क़यामत है सरश्कआलूदा होना तेरी मिशगाँ का

माशूक़ की आँखों में आँसू आ जाने से बढ़कर आशिक़ की शर्मिंन्दगी का बायस कुछ भी नहीं। आँसू में उसकी पलकों के डूबते ही उन पलकों पर आबाद आशिक़ों की भरी पूरी दुनिया भी डूब गयी होगी, मानो क़यामत आ गयी हो। ऐसी नौबत क्यूँकर आयी, ये सोच-सोचकर उनकी धमनियों में बहनेवाला ख़ून पानी हो गया होगा और मौत उनके सिर पर नाचने लगी होगी। अगर ये मालूम हो जाता कि ऐसी हालत मेरे अलावा किस-किसकी हुई है तो माशूक़ के दूसरे प्रेमियों का पता चल सकता था। यानी इस बुराई में भी एक अच्छाई हो जाती कि मैं अपने प्रतिद्वंद्वियों के बारे में सही-सही जान जाता, अन्यथा तो ये असम्भव ही है।

नज़र में है हमारी जादए-राहे-फ़ना 'ग़ालिब'
कि ये शीराज़ा है आलम के अज्ज़ा-ए-परीशाँ का

मेरी नज़र मौत की ओर तो जानेवाले रास्ते पर लगी हुई, क्योंकि दुनिया में टूटे-बिखरे तत्त्वों को जोड़ने और उन्हें नया रूप देने की क़ुव्वत केवल मौत में है।

आम तौर पर मानते हैं कि बिखरे हुए पाँच तत्त्वों(क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा— तुलसी) के एकजुट होने से जीवन बनता है और मृत्यु के बाद ये तत्त्व अलग-अलग हो जाते हैं, लेकिन ग़ालिब का कहना है कि जीवन क़दम-क़दम पर अस्तित्व को तोड़ता-बिखेरता चलता है। इसकी शुरूआत दिल के टूटने से होती है। इस टूटन और बिखराव का अन्त चिरनिद्रा में विलीन होने से पहले नहीं हो सकता। इसीलिए मैं मौत की राह देखना ही उचित समझता हूँ।

प्रेम और मृत्यु के माध्यम से अपने मूलभूत स्वरूप में रूपान्तरित होने की अनुभूति भारतीय काव्य-परम्परा की सुपरिचित काव्यानुभूति है, जिसे कबीर ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

पानी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय
जो कुछ था सोई भया, यह गति कही न जाय

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, भीतर बाहर पानी
मिटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत बूझैं ज्ञानी

वसीम बरेलवी
5, जमुनाप्रसाद रोड
बरेली (उ. प्र.)
मोबाइल : 09412485477

वसीम बरेलवी अहदे-हाज़िर के एक महत्त्वपूर्ण शायर हैं। इनके यहाँ उर्दू-शायरी के विकास को चिह्नित किया जा सकता। यदि ये कहा जाय तो ग़लत नहीं होगा कि ये उर्दू-अदब की तारीख़ में दर्ज हो चुके शायर हैं। यहाँ जो लेख प्रस्तुत किया जा रहा है, 'लम्हे-लम्हे' के वसीम बरेलवी विशेषांक(अंक-20) में प्रकाशित हो चुका है; यद्यपि कि मूल लेख को बहुत हद तक सम्पादित और अनूदित करके यहाँ प्रस्तुत किया गया है। ये लेख हमें 'लम्हे-लम्हे' के सम्पादक हसीब सोज़ से प्राप्त हुआ, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। दरअस्ल ये लेख वसीम साहब का आत्मकथन है।

अपनी व्यक्तिगत ज़िन्दगी से लेकर समकालीन उर्दू-शायरी के सम्प्रेषण और प्रचार-प्रसार के पहलुओं पर वसीम साहब द्वारा यहाँ तफ़सील से बयान हुआ है। उर्दू-पत्रिकाओं से लेकर मुशायरों की चमक-दमक का सफ़र और उसकी वास्तविकताओं का विवरण वसीम बरेलवी जैसे शायर की ज़बान से हो तो सिर्फ़ शायराना अन्दाज़ की ही उम्मीद नहीं करनी चाहिए, बल्कि कहीं-कहीं अज़ीज़ाना लहजे से भी रू-ब-रू होना पड़ेगा। वसीम साहब का ये आत्मकथ्यपरक लेख हमें उनके व्यक्तित्व के और क़रीब ले जाता है। ये लेख आगे के अंकों में जारी रहेगा।

वसीम बरेलवी

कुछ इस तरह जिया हूँ – १

हमारे बारे में लिखना तो बस यही लिखना
कहाँ की शम्अें हैं किन मह्फ़िलों में जलती हैं

इस सस्ते और गुणों की उपेक्षा किये जानेवाले युग में कला की प्रवृत्तिवालों के मान–सम्मान पर जितना कड़ा वक़्त पड़ा है, शायद ही अदबी तारीख़ के तसल्सुल ने ऐसा वक़्त देखा हो। इस सूरते–हाल के लिए जहाँ रचनाकारों की कोताहियों और मौक़ापरस्तों को किसी हद तक ज़िम्मेदार ठहराया जा सकता है, वहीं हालात को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। हिन्दुस्तान की संवैधानिक दर्जा हासिल करनेवाली 15 ज़बानों में एक ज़बान उर्दू है, जिसके इलाक़े का निर्धारण आज तक नहीं हो पाया और आज तक दर–बदरी की ज़िन्दगी गुज़ार रही है। इसका हुस्ने–हज़ारशेवा हर युग की आँखों का उजाला बना रहा, मगर उस हुस्न का कोई क्या करे जिसकी क़िस्मत में ठोकरें हों। आज़ादी के बाद उर्दू को जिस जारजाना नफ़्रत का शिकार होना पड़ा है उसके नतीजे में उर्दू–दुनिया के अच्छे ज़ेहन रोज़गार या जीविका की ख़ातिर अन्य विषयों से जा जुड़े। उर्दू–तालीम उन उर्दूपरस्तों के हिस्से में आयी जिन्हें न तो उर्दू–दुनिया ने ही अच्छी नज़र से देखा न दीगर जगहों पर उनकी क़ुबूलियत हुई। नतीजा ये हुआ कि उर्दू सांसारिक कार्य–व्यवहार की ज़रूरतों में काम न आनेवाली एक ऐसा मनोविनोद बनकर रह गयी, जिससे लुत्फ़ तो लिया जा सकता था, मगर अमली ज़िन्दगी के तक़ाज़ों को पूरा करने में जिसका कोई रोल नहीं था। रफ़्ता–रफ़्ता उर्दू तह्ज़ीब के सम्मानित घराने सामाजिक, बौद्धिक और अन्य तमाम आवश्यकताओं के पेशे–नज़र अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा दिलाने पर मज्बूर होते गये जो उनके उज्ज्वल भविष्य को सुनिश्चित कर सके। उर्दू की तरफ़ मुतवज्जेह (प्रवृत्त) होनेवाले या तो अपने जज़्बात की शिद्दत की वज्ह से आये अथवा किसी और काम में सफल नहीं हुए। दोनों सूरतों में उर्दू का वास्ता देखते–देखते एहसासे–मह्रूमी के शिकार जेह्नों से पड़ता गया और उर्दू पठन–पाठन से लेकर पत्र–पत्रिकाओं की दुनिया तक ऐसे क़लमकारों या उस्तादों की संगत में रहने लगी, जिनके यहाँ

सृजनात्मक विविधता की गुंजाइश न के बराबर थी। तमाम तरह के बहुत-से हाशियानिगार उर्दू-क़लमकारों की सफ़ में आ खड़े हुए। सबसे बड़ा नुक़्सान उर्दू-आलोचना के ज़िम्मेदाराना रवैयों का हुआ, क्यूँकि उर्दू-आलोचना से समीक्षा का तत्त्व उठता गया। शायरी बहुत हुई, अफ़्साने बहुत लिखे गये, नावेल लिखे गये, ड्रामों में भी इज़ाफ़ा हुआ, मगर आलोचना और समीक्षा पर ख़ासी गिरावट इस युग में देखने को मिलती है। आज अगर आप सवाल करना चाहें कि उर्दू-आलोचना के प्रमुख नाम कितने हैं, तो शायद दोनों हाथों की दस उँगलियाँ ही कुछ ज़ियादा साबित होंगी। आलोचना के बारे में बड़ी दिक़्क़त उस वक़्त पेश आती है जब आप किसी को ये बताने की कोशिश करें कि उर्दू-आलोचना में उपलब्धि एवं उल्लेखनीय है तो क्या और कितना। आलोचनात्मक दृष्टिकोण से बहस करें तो सिवाय चन्द आलोचकीय परिभाषाओं के उलझाव के कुछ भी हाथ न आये। नया ज़ेह्न अपने तमामतर चिन्तन के साथ इस तरफ़ ग़ौर कर रहा है और ये जानना चाहता है कि 'हाली' से आज तक उर्दू-आलोचना ने क्या सफ़र तय किया और किन-किन आन्दोलनों ने जन्म लिया और उनके नतीजे में उर्दू-आलोचना का अदबी सफ़र किन-किन पड़ावों से गुज़रा, मगर बड़ा दुश्वार काम है उन तमाम विवरणों को जमा करना और नये ज़ेह्न को मुत्मइन करना; क्यूँकि उर्दू-आलोचना से ज़ियादा शायद ही कोई साहित्य-विधा उर्दू में इतनी दिशाहीनता का शिकार रही हो। जहाँ एक पहलू उर्दू-आलोचना का ये है, वहीं दूसरी तरफ़ व्यक्तिगत आलोचनाओं का एक सैलाब दिखायी देता है। शायरी और अफ़्सानों के संग्रहों पर लिखे गये छोटे-छोटे लेख हमारे आलोचकों को आइना दिखाते नज़र आते हैं। ऐसे शायरों के बारे में उनके आलोचकीय फ़ैसले देखने को मिलते हैं, जो किसी एतबार से भी शायरों की गिनती में न आयें। उर्दू-आलोचना का ये ग़ैर-ज़िम्मेदाराना रवैया शायद ही दुनिया की किसी दूसरी ज़बान में हो।

आइए अब कुछ बात उर्दू पत्र-पत्रिकाओं की करें। पिछले 35-40 साल में उर्दू-आन्दोलनों का दायरा सीमित-से-सीमित हो गया। बड़ी ख़ुशी होती है कि इसके बावजूद उर्दू की पत्र-पत्रिकाएँ निकलती रहीं, छपती रहीं और पढ़ी जाती रहीं, मगर ये पत्र-पत्रिकाएँ चूँकि किसी आर्थिक आमदनी का ज़रिआ नहीं थीं, इसलिए इनसे सम्बन्धित लोग या तो उर्दू के हित-चिन्तक हैं जो पूरे ख़ुलूस-ओ-लगन के साथ हानि-लाभ से बेफ़िक्र होकर, उन्हें छापकर अपने अदबी और बौद्धिक कर्तव्यों के निर्वहन में लगे रहे; या फिर वो पत्र-पत्रिकाएँ हैं, जो चन्द अहले-क़लम के एकमुश्त आर्थिक सहयोग से अपनी अदबी पहचान कराने में लगी हैं। पत्र-पत्रिकाओं के स्तर का अन्दाज़ा लगाने के लिए बहुत विस्तार में न जाते हुए महज़ उन ख़तों से लगाया जा सका है, जो हमारे अहले-क़लम बड़ी विनम्रतापूर्वक सम्पादकों की ख़िद्मत में पेश करते हैं और जिन्हें पढ़कर ये पता चलता है कि हमारी उर्दू

आज भी दरबारी आदाब की हद से बाहर नहीं हो पायी है। चूँकि इन पत्र-पत्रिकाओं में छपनेवाले ज़ियादातर लेख कुछ मक़्सद के पेशे-नज़र होते हैं और समझौतों का शिकार होते हैं, इसीलिए इनसे किसी बड़े मक़्सद के प्रतिनिधित्व की उम्मीद करना निरर्थक है। अदबी पत्र-पत्रिकाओंवालों की भी अपनी मज्बूरियाँ होती हैं और छपनेवालों की भी। शायरी पर चर्चा-परिचर्चा करनेवालों में वो हज़रात भी शामिल हैं, जो एक मिस्रा भी वज़्न में नहीं पढ़सकते और जहाँ तक मेरा तअल्लुक़ है तो मैंने बचपन से ही उस्तादों के दीवान देखे, पुराने शायरों का अध्ययन किया और शायरी में जितने रंग-ओ-आहंग नज़र आये उन्हें समझने की कोशिश की। जितनी आवाज़ें उठीं उनके अपनेपन को जानने की कोशिश रही, मगर इसके बावजूद मैं ये दावा नहीं कर सकता कि उर्दू-शायरी में आज तक जो कुछ हुआ है, वहाँ तक मेरी मुकम्मल पहुँच है, लेकिन इतना कहे बग़ैर बहरहाल नहीं रह सकता कि जहाँ तक मेरी शायरी का तअल्लुक़ है, मैंने शायरी शौक़िया नहीं, बल्कि अपने वजूदी दबाव में शुरू की। कोई चीज़ थी जो मुझे अन्दर से कहलवाना चाहती थी और मैं अपने आपको कहने की कोशिश में लगा रहा। जो भी हो, मैं शायरी के उस माहौल का इस वक़्त ज़िक्र करना चाहूँगा जिस माहौल में मैंने आँखें खोली और उन तमाम हवाओं का जो शेरी कायनात ने मेरे चारों तरफ़ बिखेरी हुई थी; मुझे उन सबके सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे सामने 'निगार', 'शायर', 'तह्रीक', 'आजकल', 'शाहराह' और 'किताब' जैसी पत्रिकाएँ थीं, जो देहली, बम्बई, लखनऊ वग़ैरह से निकल रही थीं। बग़ैर विस्तार में जाये ये बता दूँ कि मैंने शुरूआतन् चन्द ग़ज़लें कुछ पत्रिकाओं को ज़ुरूर भेजी। एक पत्रिका के सम्पादक से मेरी काफ़ी लिखित नोक-झोंक भी रही। हर चन्द मेरे मुनासिब जवाबों के बाद भी वो बुज़ुर्गवार अपनी जगह से नहीं हटे। लिहाज़ा मैंने भी क़दम पीछे हटाना मुनासिब नहीं समझा और नतीजा ये हुआ कि सम्पादक महोदय की हठधर्मिता से मेरे एहसास को वो ठेस लगी कि मुझे फिर किसी पत्रिका को अपना कलाम भेजने में तकल्लुफ़ होने लगी।

उन्हीं दिनों अपने एक शार्गिद की ज़िद पर एक मश्हूर-ओ-मक़्बूल नीम-अदबी (अर्द्धसाहित्यिक) पत्रिका के एडीटर से मिला तो मुझे अन्दाज़ा हुआ कि इस पत्रिका की मारिफ़त हम जिस एडीटर को जानते हैं, ये वो नहीं हो सकते। कुछ और बातें सामने आयीं। मेरी अपनी शार्गिद से काफ़ी बहस हो गयी, मगर मुझमें झुकने के कोई आसार न देखते हुए उन्होंने एक दिन मुझे वो तमाम ख़त लाकर दिखा दिये जो बड़ी-बड़ी क़द्दावर शख़्सियतों ने सम्पादक महोदय के नाम लिखे थे। उन ख़तों में जो अहले-क़लम की दास-प्रवृत्ति का आलम देखने को मिला, उसने मुझे उर्दू-पत्रिकाओं की दुनिया से बहुत मायूस किया और मैंने इस दुनिया से सम्बन्ध रखना अपनी ख़ुद्दारी के लिए एक बहुत बड़ा चैलेंज समझ लिया। अब दूसरा रास्ता था— लोगों तक पहुँचने का— मुशायरों के ज़रिए, शेरी महफ़िलों के ज़रिए। यहाँ न

किसी को ख़ुशामदाना ख़त लिखने थे, न किसी जोड़–तोड़ का सहारा लेना था, न अपनी ख़ुद्दारी को तज देने की बात थी। मैं आजिज़ाना तरीक़े से अर्ज़ कर रहा हूँ कि पिछले 35 साला मुशायरों की वाबस्तगी के दौरान हिन्दुस्तान या हिन्दुस्तान के बाहर कोई मुशायरा कन्वीनर या मुशायरों से सम्बन्धित पत्र–व्यवहार करनेवाले लोगों में से एक भी पत्र वसीम बरेलवी का ऐसा दिखा सकें जिसमें किसी तरह की ज़रा भी कोई तलब हो, तो शायद न दिखा पायें। ख़ुदा का शुक्र है कि उसने मेरे संयमी स्वभाव को देखते हुए और मेरी बेनियाज़ी के पेशे–नज़र मेरे लिए ऐसे रास्ते पैदा कर दिये कि मुझे किसी से मिन्नत नहीं करनी पड़ी। मेरे इस क़ौल में कहीं ज़रा भी ग़ुरूर हो तो मुझ पर लानत, लेकिन अपनी छोटी–सी हैसियत के साथ ज़िन्दा रहने के हक़ को अपनी ज़िम्मेदारी समझते हुए मैं एक ऐसे सफ़र पर निकल पड़ा था, जिसके भविष्य का कोई ख़ाका पहले से मेरे ज़ेह्न में मौजूद नहीं था। अवामी मुशायरों से लेकर ख़ुसूसी मह्फ़िलों तक मुझे स्वीकार्यता मिली और स्वीकार्यता के साथ–साथ मेरी इस कोशिश ने मुझे बड़ी ताक़त बख़्शी कि मैंने मुशायरों के आम तक़ाज़ों से हटकर शायरी की आवश्यकताओं को पूरा करने का संकल्प कभी नहीं छोड़ा। शायद आज सुननेवालों को ये बात कुछ अजीब–सी लगे, मगर हक़ीक़त यही है और इसका इज़्हार करने में मुझको संकोच नहीं कि मुशायरों की दुनिया में मेरा इस्तक़बाल नाकामियों ने किया, इसकी तीन वजूहात थीं.....

पहली तो ये कि मुशायरों के फ़र्ज़ी और बनावटी माहौल में लिबास की बड़ी अहमियत थी। मेरी बाग़ियाना कोशिशें आलोचना का विषय भी बनीं, मगर आख़िरकार मक़्बूलियत के दर्जा को भी पहुँची।

दूसरी वजह; शेर को श्रोताओं तक पहुँचाने का मेरा तरीक़ा मुशायरों के तक़ाज़ों से अलग था। मेरे यहाँ शेर वजूद के तमामतर टूटने–बिखरने का इज़्हारिया बनकर आवाज़ के सहारे अदायगी की मंज़िलें तय करता था। मुशायरों के अधिकतर श्रोता इस ठहराव से अपरिचित होने की वजह से वो तवज्जो नहीं दे पाये जिसका मैं हक़दार था।

तीसरी वजह; मेरे यहाँ रचनात्मक सोच की वो तहदाराना ताक़त थी जो मुशायरों के सपाटपसन्द ज़ेह्नों की सतह से तालमेल नहीं बैठा पायी थी। 1960-62 के आसपास के मुशायरों के सामान्य स्वीकार्य विषयों में हुस्न–ओ–इश्क़ की कारफ़र्माइयों का ख़ासा दख़्ल था। जहाँ इस तरह की शायरी पसन्द की जा रही हो—

रुख़ से पर्दा हटा दे ज़रा साक़िया
बस अभी रंगे–महफ़िल बदल जायेगा

अल्ला मियाँ का नाम लिया और पी गये

वहाँ मेरा इस तरह के शेर पढ़ना—

मैं कुछ इस तरह जिया हूँ कि यक़ीन हो गया है
मेरे बाद ज़िन्दगी का बड़ा एहतराम होगा

बादे–मश्रिक़ीन का–सा मुआमला लगता था, मगर आज माज़ी की तरफ़ घूमकर देखता हूँ और तज्रुबा करता हूँ तो मुझे ये कहने में कोई हिचक नहीं कि जिन मुशायरों में मुझे नाकामी का मुँह देखना पड़ा था, वहीं से जब फिर दावतनामे मिले तो मेरे अन्दर के शायर को हौसला मिला, ताक़त मिली और मैं इस इरादे के साथ क़दम बढ़ाता रहा कि किसी भी मोड़ पर मुझे अवाम को ख़ुश करने के लिए अपने फ़िक्री रख–रखाव को नज़रअन्दाज़ नहीं करना है; और शायरी को तह–दर–तह इम्कानात तक पहुँचाने की कोशिश को सिर्फ़ वक़्ती शोह्रत के लिए दाँव पर नहीं लगाना है। इस सफ़र में दिक़्क़तें आयीं, मगर साबितक़दमी राह की मशाल बनी रही। फलस्वरूप देखते–ही–देखते वो दिन भी आये जब ज़िन्दगी की धूप–छाँव भी ग़ज़ल के प्रचलित विषयों में इन्द्रधनुष की तरह शामिल हुई और लोगों ने शायरी के बारे में अपना दृष्टिकोण तब्दील किया। इस सारी विस्तृत विवेचना का लुब्बो–लुबाब ये है कि पत्र–पत्रिकाओं की दुनिया एक मैदान था, जिसको इस्तेमाल करनेवाला चाहिए था, मैंने उसको इस्तेमाल ही नहीं किया, बल्कि उर्दू–मुशायरे के मंच को अदबी हवालों का ज़मानतदार बनाने की कोशिश की। मेरी इस कोशिश के ख़ातिरख़्वाह नतीजे बरआमद हुए और मुशायरों में जो रवायती शायरी और शेर का तसव्वुर था, उसके बरअक्स पढ़े–लिखे लोग डाइस पर दिखायी देने लगे और जब ऐसी शायरी लोगों को प्रभावित करने लगी तो उन शायरों के लिए रास्ता खुल गया जो मुशायरों के स्टेज को वर्जित–निषिद्ध या एक नीम–अदबी प्लेटफार्म समझते थे। मेरी इस बात का हर्गिज़ ये मतलब नहीं कि कि मैं अदबी पत्र–पत्रिकाओं से होनेवाले फ़ायदों का क़ायल नही हूँ। जो उत्कृष्ट साहित्यिक प्रयास एवं मेह्नत शायरी, अफ़्साना या नावेल की शक्ल में कभी–कभी उर्दू की पत्र–पत्रिकाओं की शोभा बनती है, मैं उन्हें पढ़ता भी हूँ और उनका क़ायल भी हूँ, लेकिन जो जोड़–तोड़ की फ़ज़ा इन पत्र–पत्रिकाओं के पृष्ठों में दिखायी देती है। उसे मैं सृजनात्मक साहित्य के उत्कृष्ट विचारों के दृष्टिकोण से ग़लत समझता हूँ। अदबी ज़िम्मेदारियों के लोगों की कमी की वजह से शायद मुझे ये बात कहना पड़ रहा है कि मुशायरों की दुनिया में जो सृजनात्मक साहित्य आ रहा है, उसमें अगर 90 फ़ीसद ज़िक्र करने के लायक़ नहीं तो, पत्र–पत्रिकाओं में छपनेवाले अदब का एक बड़ा हिस्सा काग़ज़ के दिल पर बोझ से ज़ियादा नहीं, मगर इस हक़ीक़त का पक्ष लेने की हिम्मत भी हमारे क़लमकारों के पास नहीं, इसीलिए ज़रूरत इस बात की है कि व्यक्तिगत द्वेष से ऊपर उठकर क़लम की ईमानदारी इस बात का पक्ष ले कि हम इलेक्ट्रानिक(electronic) युग में साँस ले रहे हैं।

'मीर' के ज़माने में शेर को देहली से लखनऊ तक सफ़र करने में महीने और साल बीत जाते थे। आज कोई आलोचक ये दावा नहीं कर सकता कि इस इलेक्ट्रानिक मीडिया के दौर में वो क़ाबिले-ज़िक्र रचनाकार की रचना से बेख़बर हो। ख़बर रखने के बावजूद बेख़बरी का ड्रामा करने से बड़ा अदबी गुनाह कोई नहीं।

बात कहीं-से-कहीं जा पहुँची। कहना मैं ये चाहता था कि मुशायरों के सफ़र में एक बार क़दम उठाने के बाद मैं पीछे घूमकर न देख सका। मुशायरों के माध्यम से जो आर्थिक लाभ का पक्ष निकलता है, वो और भी ईर्ष्या-द्वेष का जन्मदाता है। गद्य(prose) किताबों का लेखक पूरी ज़िन्दगी निचोड़ने के बाद दस-बारह किताबें उर्दू-दुनिया को देता है। उसे किताबें छपाने के लिए पब्लिशरों के चक्कर काटने पड़ते हैं, लेकिन उसका हक़ तो क्या उसके पसीने की भी क़ीमत नहीं मिल पाती और पब्लिशर अपने कॉपीराइट वग़ैरह के ज़रिअे क़लमकार की रात-रात भर जागने और मेह्नत से बहुत-कुछ हासिल करते हैं, जिसकी मिसाल किसी दूसरी ज़बान में मिलना मुश्किल है। इसके बरख़िलाफ़ एतबारे-मुशायरा बनने के बाद शायर की आर्थिक स्थिति उस अदीब से बिल्कुल अलग होती है, जिसके लेख इत्यादि उसकी भौतिक ज़रूरतें पूरी करने में असमर्थ रहे हैं। साहित्यालोचकों के लिए ये बात भी कम सब्रआज़्मा नहीं कि वो जिन साहित्यकारों के सर पर एतबार का ताज रख रहे हैं, उनकी रचना का सिला कई शक्लों में उन्हें मिल रहा है। उर्दू-शायरी की बात चलती है तो उनका नाम लिया जाता है। उनका काव्य-संग्रह ख़रीदने के लिए सुबह से शाम तक बुक-सेलर्स के यहाँ ग्राहक आते हैं और उन्हें समाज में भी एक आला मक़ाम शायरी के माध्यम से हासिल है। साहित्यालोचकों की क़लमकाराना ईमानदारी को डगमगाने के लिए ये बहुत है। इसके बावजूद वो लिखता है उसका बड़ा हौसला है।

उर्दू पिछले 30 साल में चन्द वज्हों से ज़िन्दा है, जिनमें सबसे बड़ी वज्ह उर्दू शायरी है। ये उर्दू-शायरी फ़िल्मी नग़्मों के ज़रीअे उन कानों में भी रस घोलती जा रही है जो उर्दू पर कभी नहीं खुलते थे। उन घरों में भी पहुँचती रही है, जहाँ उर्दू-विरोध के लिए आन्दोलन चलता रहा है। उन ज़बानों की भी शोभा बनी, जो हमेशा उर्दू के विरोध में खुलती रहीं; और दूसरी वज्ह थी उर्दू-शायरी का स्टेज। मुशायरे पिछले 30-35 साल में हिन्दुस्तान के सांस्कृतिक और बौद्धिक वर्ग के प्रतिनिधि बने। हैरतअंगेज़ बात कहना चाहता हूँ कि मुशायरों के आयोजन पर होनेवाले ख़र्च वग़ैरह का बेशतर हिस्सा उन जेबों से आता है जो उर्दू की क़मीज में नहीं लगतीं, मगर उर्दू-शायरी का शौक़ उन तमाम वैमनस्य और नकारात्मक सोच पर हावी रहा और हिन्दुस्तान की नयी नस्लें लिपि(script) से वाक़िफ़ न होने के बावजूद और उर्दू से नावाक़िफ़ होने के बाद भी उर्दू-शायरी के मुहाविरे से विलग न हो सकीं। उर्दू की स्वीकार्यता का राज़ जानने के लिए हिन्दुस्तान के भाषाई विरोधाभास को भी ज़ेह्न में रखना होगा और उन सत्य-विमुख रूढ़िवादियों तथा पुरातनपंथियों की सक्रिय कोशिशों को भी समझना होगा, जिन्होंने हिन्दीपरस्ती के गुमान

में हिन्दी यानी खड़ीबोली के साढ़े तीन हज़ार साला यात्रा–क्रम का मुँह चिढ़ाने की कोशिश की। आज़ाद हिन्दुस्तान की नयी हिन्दी को सजाया और सँवारा गया। संस्कृत के उन तत्सम लफ़्ज़ों के ज़रिअे जो अपनी ऐतिहासिक यात्रा करके कुछ–से–कुछ हो चुके थे, जैसे 'रात्रि' तो 'रात' हो चुका था। अब 'रात' की जगह 'रात्रि' लिखना इतिहास को पीछे की तरफ़ मोड़ने के समान था। लिहाज़ा हिन्दी के मिशनरी ज़बान को दिलों से जोड़नेवाली वो अर्थवत्ता न दे पाये, जो किसी भी ज़बान के स्वाभाविक विकास का नतीजा होती है। वक़्त को पीछे की तरफ़ मोड़ने के असन्तुलित जज़्बे ने हिन्दी को रवाँ–दवाँ होने के बजाय सुस्त–रौ और अन–अनुकरणीय बना दिया। परिणामस्वरूप आप देखें कि उर्दू–ज़बान चूँकि भाषाई विकास–क्रम का नतीजा थी तो उसकी शायरी की स्वीकार्यता का ये आलम है कि लोग तन्हाइयों में शेर पढ़ते हैं और गुनगुनाते हैं और अपनी ज़िन्दगी के भूत–भविष्य(अर्थात् आगे–पीछे के विभिन्न विषयों को) को उर्दू के आइने में देखने की कोशिश करते हैं, मगर हिन्दी के बड़े–से–बड़े कवि की चन्द पंक्तियाँ भी आम ज़िन्दगी का ज़रिआ–ए–इज़्हार नहीं बन पाते। ये बात भी क़ाबिले–ज़िक्र है कि ये सबकुछ हिन्दीवालों ने ही नहीं किया; उर्दूवालों ने भी ज़बान को फ़ार्सी–अरबी बनाने की कोशिश की। जिसके नतीजे में उर्दू के ख़िलाफ़ एक विमुखता का भाव आम लोगों के दिलों में पैदा हुआ। नासिख़ीयत('नासिख़') का सिक्का न चला होता और 'मीर' का जामा मस्जिद की सीढ़ियों का भोला–भाला मुहाविरा या 'हाली' का ज़बान को भाषाई लबो–लहजा देने के लिए 'चुप की दाद', 'बेवा की फ़रियाद' जैसी नज़्में लिखना वक़्त की ज़रूरत न बना होता तो शायद उर्दू–हिन्दी का ये झगड़ा ही न खड़ा होता। अगर मीर यूँ कहते हैं— 'शेर मेरे हैं गो ख़वासपसन्द, गुफ़्तगू पर मुझे अवाम से है' तो उन्होंने मेरे खयाल में रहती दुनिया तक के लिए फ़िक्रे–शेर का क्षेत्र–निर्धारण कर दिया। शायरी आला क़द्रों की अमीन हो, आला एहसासात की तर्जुमान हो, आला मौज़ूआत की आईनादार हो, मगर शायरी अपने अहद के अवामी एहसास से मुँह कभी नहीं मोड़ सकती। चुनांचे मुझे उर्दू–मुशायरों से बड़ा कोई प्लेटफार्म नज़र नहीं आता जो उर्दू के पास हो और 'मीर' के शेर का तर्जुमान भी हो। रहती दुनिया तक शायद 'मीर' का ये शेर उर्दू–मुशायरे से होनेवाले फ़ायदों की वकालत करने को काफ़ी है। 'मीर' ही ने तो 'ग़ालिब' के लिए कहा था कि ये लड़का अगर कामिल उस्ताद पा गया तो इसका शेरगोई में जवाब न होगा, वर्ना मुह्मिलगो हो कर रह जायेगा और 'गालिब' ने अपनी स्वाभाविक मौलिकता और उक्तिवैचित्र्य से 'मीर' के उस कथन की पुष्टि भी कर दी। रंगे–'बेदिल' की भूल–भुलइयों से लेकर 'मीर' की 'प्रतिबन्धित सरलता' तक का सफ़र क्या ये साबित करने को काफ़ी नहीं ?

'कुम्री कफ़े–ख़ाकस्तरो–बुल्बुल क़फ़से–रंग' से 'दिले–नादाँ तुझे हुआ क्या है'

तक 'ग़ालिब' जिन फ़िक्री तज्रुबों से गुज़रे वही 'मीर' के इस शेर— 'शेर मेरे हैं गो ख़वासपसन्द, गुफ़्तगू पर मुझे अवाम से है' के वकील भी हैं और मेरे दावे की दलील भी; मगर मैं पूरी तरह मुशायरों में पढ़ी जानेवाली शायरी से हर्गिज़ मुत्मइन नहीं और न उसमें पढ़े जानेवाले बेशतर कलाम को अदबी मान लेने का तरफ़दार हूँ। अहले-नज़र का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि अगर किसी शायर ने मुशायरे के प्लेटफ़ॉर्म पर ख़वासपसन्द(ख़ास लोगों की पसन्द) शेर कहने के बावजूद गुफ़्तगू अवाम से की है तो उसकी स्वीकार्यता होनी चाहिए, ताकि उर्दू-शायरी के लीन-तल्लीन लोगों को अपने युग का प्रतिनिधित्व होने का हौसला मिले। शायरी की प्रगतिशीलता में कमी, इसके इस तरफ़ रुज्हान कम होने या पद-दलित होने के कारणों को मुशायरों के बजाय उन विभागों में तलाश कीजिए जहाँ उर्दू की जड़ें सूख रही हैं, उन घरों में तलाश कीजिए जहाँ उर्दू की धूप की तरफ़ से खिड़कियाँ बन्द कर ली गयी हैं, उन सियासी साज़िशों में तलाश कीजिए जिनके ज़रिअे एक तहज़ीबी सरमाया (सांस्कृतिक पूँजी) को दफ़्न करने की तैयारियाँ जारी हैं। (**आगे के अंकों में क्रमशः जारी....**)

डॉ.अज़ीज़ इन्दौरी
45, काशाना-ए-क़ादरिया
शालीमार कालोनी, खजराना,
इन्दौर (म. प्र.)
मोबाइल : 09302589177

डॉ.अज़ीज़ इन्दौरी देवी अहल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर (म. प्र.) में डीन थे। उर्दू–तन्क़ीद में इनका नाम बड़े अदब के साथ लिया जाता है। कहानी, शायरी और आलोचना से सम्बन्धित इनकी लगभग बीस किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं। सेवानिवृत्त होने के बाद भी इन्होंने लिखने–पढ़ने का काम बन्द नहीं किया। इनके दिशा–निर्देशन में बहुत से शोधकार्य (एम. फिल. एवं पीएच. डी.) सम्पन्न हुए हैं।

डॉ.अज़ीज़ इन्दौरी का ये लेख मंसूर उस्मानी को अहदे–हाज़िर के मक़्बूल शायरों में दर्ज करने के लिए सनद की हैसियत रखता है। मंसूर उस्मानी के कई ग़ज़ल–संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं– ‘मैंने कहा’ (1990), जुस्तजू (1998), ‘ग़ज़ल की ख़ुश्बू’ (2004) तथा ‘कश्मकश’ (2007)। विश्व का शायद ही ऐसा कोई देश होगा जहाँ मुशायरा होता हो और मंसूर उस्मानी वहाँ न गये हों। विभिन्न महत्त्वपूर्ण पुरस्कारों से नवाज़े जा चुके मंसूर उस्मानी फ़िलवक़्त मुरादाबाद के म्युनिसिपल बोर्ड में कार्यरत हैं।

डॉ. अज़ीज़ इन्दौरी

मंसूर उस्मानी कश्मकश के शायर हैं

जिस शख़्स को किसी भी क़िस्म का फ़न्नी शऊर ख़ानदानी शक्ल में मिला हो, जिसने उस फ़न के जल्वे अपनी आँखों से देखे हों, जिसके कानों में उस फ़न की बुलन्द आवाज़ें सुब्हो-शाम गूँजती रही हों और इस सारी विरासत को सँभालकर रखने का शऊर क़ुद्रत ने जिसे बख़्शा हो, उसका नाम मंसूर उस्मानी है, जो उर्दू के उस्ताद शायर जनाब गौहर उस्मानी के सुपुत्र हैं। इसीलिए उनकी शख़्सियत में अपने ख़ानदान के पुरखों की कुलीनता, उनकी शराफ़त, इल्म-दोस्ती और अदबी परिपक्वता कूट-कूटकर भरी हुई है। उन्होंने अपने घर की चहारदीवारी ही में इल्मो-अदब के शबिस्तान को रोशन देखकर उसकी रोशनी से अपने दिलो-दिमाग़ को प्रकाशित किया। उनके वालिदे-माजिद की दोस्तनवाज़ी के चर्चे भी अदबी दुनिया में बहुत मश्हूर रहे हैं। इसीलिए उनकी सोह्बतों में दुनिया-ए-अदब की नामवर शख़्सियतों की मौजूदगी और उनकी इल्मी गुफ़्तगू से मंसूर उस्मानी का लाभान्वित होना स्वाभाविक बात थी, जिसे उन्होंने एक नेमते-ग़ैरमुतरक़्क़बा के तौर पर अपने सीने में उतार लिया और जब शेरगोई की जानिब मुतवज्जो हुए तो उस नेमत की तमामतर ख़ुश्बू से अपने दिलो-दिमाग़ को मुअत्तर करने का उन्हें सलीक़ा हासिल करने में कोई दुश्वारी नहीं आयी।

क़ुद्रत ने उन्हें एक संवेदनशील दिल अता किया है और इसीलिए उन्होंने अपनी तमामतर संवेदनाओं को काम में लेते हुए उस शेरी विरासत को उत्तरोत्तर विकसित किया, जो उन्होंने अपने ख़ानदान की अज़ीम रिवायत से हासिल की थी और जिसे उन्होंने अपने इर्द-गिर्द के माहौल और अपने युग के सारे समाजी, इंसानी, मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक स्थितियों का प्रतिबिम्ब बनाकर अपनी ग़ज़लों में पेश किया है। ऐसा मह्सूस होता है कि मंसूर उस्मानी उन्हें अपनी ग़ज़लों में एक गहरे सन्तुलन और सामंजस्य के साथ ढालने की कामयाब कोशिश करते हैं। मंसूर उस्मानी का तअल्लुक़ इस युग की उस नई नस्ल से है, जो समाजी एतबार से बदबूदार ज़िन्दगी गुज़ारने पर मज्बूर है; और इस दम घोटनेवाले माहौल से ख़ुद को बाहर लानेवाले और एक साफ़-सुथरे समाज के निर्माण के लिए प्रयत्नशील भी है, ताकि इंसान के चेह्रों की बदनुमाई को दूर करके उन्हें रोशन और चमकदार बनाया सके। समाज आज जिस ज़ेह्नी कश्मकश का शिकार हो रहा है, उससे निजात पाने की कोशिश को मंसूर उस्मानी के भीतर का शायर अपनी जन्मजात प्रतिभा के सहारे मन्द नहीं होने देता। मंसूर भी इस ज़ेह्नी कश्मकश का शिकार होने के बावजूद अपने अज़्म को मुर्दा नहीं होने देते। इस सिल्सिले में उनके ये अश्आर मुलाहिज़ा कीजिए—

दयारे–जाँ में जलाये रहो वफ़ा के चिराग़
पता ग़मों का इसी रोशनी से मिलता है

मैदान में निकलोगे तो पहचानेगी दुनिया
बुज़दिल जो बनोगे तो हुकूमत न मिलेगी

मंसूर उस्मानी खुले दिल से इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनकी वैचारिक शक्ति को जाग्रत करने और जीवित रखने में उन अज़ीम शख़्सियतों का हाथ रहा है, जो अपने मानसिक और वैचारिक विस्तार से कायनात को विस्तार देने में पेश–पेश रही हैं। उनकी इस स्वीकार्यता ने उन्हें अपनी वैचारिक सतहों को बुलन्द करने का जो हौसला दिया, उसने उनकी ग़ज़ल में एक नयी चमक पैदा कर दी। उनकी बेशतर ग़ज़लियात में 'मीर', 'ग़ालिब', 'मोमिन' और 'फ़ानी' वग़ैरह के शेरी चिन्तन का ज़िक्र जिस तरह मिलता है, उससे इस बात का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि वो शेरी चिन्तन की पैरवी महज़ इस वज्ह से करते हैं ताकि उनकी शेरी क़ूवत दोबाला हो सके। वो जब ये कहते हैं–

ज़माना आज भी पढ़ता है मीरो–ग़ालिब को
हमारा नाम भी दुनिया में मोतबर कर दे

तो महसूस होता है कि वो अपनी फ़िक्र में एक ऐसी चमक पैदा करने की ख़्वाहिश का इज़्हार करते हैं, जो उन्हें मीरो–ग़ालिब के ज़ेह्नी फ़िक्र का सही अनुकरण–अनुसरण करने के लायक़ बना सके। मंसूर उस्मानी ने ग़ज़ल कहते वक़्त नयी–नयी ज़मीनें तलाश की हैं। अपनी इस कोशिश में वो बड़ी हद तक कामयाब नज़र आते हैं। चन्द मिसालें देखिए–

कभी दस्तार की बख़्शिश, कभी दस्तार पे ख़ाक
है ये दरबार का दस्तूर तो दरबार पे ख़ाक

हम रखके अपने ग़म का भरम ख़ैरियत से हैं
शिकवे जो कर रहे थे वो कम ख़ैरियत से हैं

बारूद के इक ढेर पे बैठी हुई दुनिया
शोलों से हिफ़ाज़त का हुनर पूछ रही है

सूरज बुझा न दिन ही छुपा शाम हो गयी
ज़ुल्फ़ें बिखर गयीं तो लगा शाम हो गयी

बुझने न दो चिराग़े–वफ़ा जागते रहो
पागल हुई है अबके हवा जागते रहो

थी मुख़ालिफ़ ख़ुदाई पत्थर की
बात हमने बनाई पत्थर की

मंसूर उस्मानी ने ग़ज़ल को फ़ार्मूला की तरह इस्तेमाल नहीं किया है और न उन्होंने उसे उसके तह्ज़ीबी वक़ार से कम मर्तबा ही होने दिया है। उसके भाषाई मर्तबे को भी कमज़ोर नहीं होने दिया है, यानी उसकी भाषाई तहज़ीब को अख़बारी ज़बान के ज़ेरे-साया परवान चढ़ाने की भी कोशिश नहीं की है और न कभी उसमें किसी ऐसे पहलू को ही दाख़िल होने दिया है जो उसे मिज़ाजी एतबार से खुरदुरा कर दे। इस सिल्सिले में वो ख़ुद कहते हैं—

ग़ज़ल में शोर बढ़ता जा रहा है
ग़ज़ल तह्रीक होती जा रही है

इन अश्आर में उन्होंने ग़ज़ल के मिज़ाज की जिस तरह अक्कासी की है, उससे अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि वो गज़ल को किसी तरह और किसी भी उथल-पुथल का शिकार नहीं होने देना चाहते, बल्कि ग़ज़ल के मिज़ाज में हयातो-कायनात के हर उस पहलू को ढालने की कोशिश करते हैं, जिसका रिश्ता ज़मीनो-आस्मान से यकसाँ हो। वो तल्ख़-से-तल्ख़ समस्याओं को उनकी प्राकृतिक और स्वाभाविक स्थिति-परिस्थिति के ऐन मुताबिक़ शेरी शक्ल में ढालते वक़्त इस बात का भी ख़याल रखते हैं कि ऐसे लहजे को अख़्तियार किया जाये जो उन समस्याओं को स्पष्ट कर सके, व्याख्यायित कर सके। इसके लिए वो भाषाई ख़ूबियों और गहराइयों पर भी पूरी गिरफ़्त रखते हुए अपनी ग़ज़ल को सँवारते हैं। इसीलिए उनकी ग़ज़ल में न तो किसी क़िस्म की बदमज़गी ही पैदा होती है और न उनकी ग़ज़ल बयानिया अन्दाज़ ही अख़्तियार करती है, बल्कि उसमें ग़ज़ल की वो सारी ख़ूबियाँ शामिल नज़र आती हैं जिसकी वज्ह से वो लतीफ़तर बन जाती है, चाहे उसका तअल्लुक़ तल्ख़तरीन समस्याओं से हो या मह्बूब की अज़्मत से हो। चन्द मिसालें मुलाहिज़ा कीजिए—

कोई झोंका कभी ले जाये उड़ाकर उस तक
उसकी बस्ती में शबो-रोज़ भटकना चाहूँ

इश्क़ जब अपनी करामत पे पहुँचता है तो फिर
सर में सौदा नहीं होता है जुनूँ होता है

तुमसे दिल्ली न हो सकी अपनी
हमने दिल जीते हुक्मरानी से

दिल अदालत है आँख मुंसिफ़ है
कोई झूठा बयान मत देना

मंसूर उस्मानी की ग़ज़ल में उभरा बेसाख़्ता लहजा अक्सर प्रभावित करता है। वो इस लहजे से अपनी ग़ज़ल में जिस तरह का लुत्फ़ पैदा करते हैं, वो सुननेवाले के दिल में उतर जाती है। इसीलिए उनकी ग़ज़ल में खुरदुरापन पैदा नहीं होता, बल्कि पाठक के उदास लम्हे भी अक्सर शिगुफ़्ता बन जाते हैं। मंसूर उस्मानी अपनी ग़ज़ल को एक ऐसी कंकरी की तरह, हयातो-कायनात के दरिया में फेंकने की कोशिश करते हैं जो उस दरिया में हल्की-हल्की मौजें पैदा कर देती है। उनकी ग़ज़ल में समन्दर की ठाठें मारती हुई मौजों का शोर सुनायी नहीं देता; यही उनकी ग़ज़ल की सबसे बड़ी ख़ूबी है।



डॉ. जावेद नसीमी
T- 2/25, पी. डब्ल्यू. डी. कालोनी
बग़ीचा चौधरान, रामपुर-244901 (उ.प्र.)
मोबाइल : 09997381531

जिगर मुरादाबादी ख़ालिस ग़ज़ल के शायर हैं। जिगर साहब पर कोई तब्सिरा करना, कोई गुफ़्तगू करना, ख़ुद अपने-आप में एक शायराना काविश है। डॉ. जावेद नसीमी का ये लेख जिगर साहब की शायरी में जो आशिक़ मिलता है, उसके तीखे तेवर को बयान करता है। डॉ. जावेद नसीमी ने वसीम बरेलवी पर अपना शोध कार्य (पीएच. डी.) पूरा किया है। ये आधुनिक और समकालीन शायरी की गहरी समझ रखते हैं और आये दिन उर्दू-तन्क़ीद के क्षेत्र में अपने हवाले से कुछ-न-कुछ बेह्तर और नया जोड़ते रहते हैं। शीघ्र ही इनक़ी ग़ज़लों का संग्रह 'ख़्वाब आसमानों का' प्रकाशित होनेवाला है। इस वक़्त अपने आबाई ज़िला रामपुर में ही शिक्षण कार्य से जुड़े हुए हैं।

डॉ. जावेद नसीमी

ग़ज़ल के तीखे तेवर का शायर : जिगर मुरादाबादी

उर्दू-शायरी और ख़ास तौर से ग़ज़ल में हुस्नो-इश्क़ को हमेशा से केन्द्रीय हैसियत हासिल रही है। आम तौर पर ग़ज़ल के सभी शायरों के यहाँ एक-से आशिक़ और एक-से माशूक़ पाये जाते हैं। न सिर्फ़ सरापा, बल्कि ख़ासियतों और आदतों के एतबार से भी तमाम माशूक़ों में ज़बरदस्त यकसानियत है। हर एक का मह्बूब रश्के-महताब, मिज़ाज के एतबार से हर एक नाज़ुक और आदतों के एतबार से हर एक बदअत्वार, बदअख़्लाक, गुस्ताख़, शरीर, ज़ालिमो-जाबिर और बेरुख़ी-ओ-बेएतनाई बरतनेवाला है। दिल आने की बात तो अलग है वर्ना हक़ीक़त में तो ऐसे बुरे इंसान से कोई रस्मो-राह भी रखना न चाहे; लेकिन जिगर मुरादाबादी के यहाँ जो मह्बूब है उसकी तस्वीर ज़रा मुख़्तलिफ़ है। इस मह्बूब के सम्बन्ध में आले अहमद 'सुरूर' साहब फ़र्माते हैं— ''उनका (जिगर का) मह्बूब क़दीम उर्दू शोअरा का बेरहम, संगदिल, तुर्के-सितमपेशा नहीं है। वो सीने में दिल और पहलू में जज़्बात रखता है। वो ज़ुल्म भी करता है और रहम भी। बिजलियाँ भी गिराता है फूल भी बरसाता है।''

जिगर मुरादाबादी के यहाँ माशूक़ दूसरों के माशूक़ से अलग है तो आशिक़ भी रिवायती आशिक़ से हटकर है। जिगर के अहद तक आम शायरों के यहाँ आशिक़ का तसव्वुर एक ऐसे जीर्ण-शीर्ण और दुर्बल शख़्स का है जो बेबसी-ओ-लाचारी की तस्वीर है। उसमें न तो अज़्मो-हौसला बाक़ी है और न वो कुछ कर पाने की हिम्मत ही रखता है। हाथों में कश्कोल (भिक्षा-पात्र) लिये हर वक़्त दरे-मह्बूब पर जल्वानुमाई और वस्ल (मिलन) की भीख माँगता दिखायी देता है। अपने पूर्वजों के पेशा-ए-सिपहगरी पर नाज़ करनेवाले 'ग़ालिब' भी दरे-मह्बूब पर गदागरी ही करते नज़र आते हैं और मह्बूब तो मह्बूब, उसके दरबान तक के पैर पकड़ने में अपनी तौहीन नहीं समझते। जैसा कि उन्होंने ख़ुद ही फ़र्माया है—

> गदा समझ के वो चुप था जो मेरी शामत आयी
> उठा और उठ के क़दम मैंने पासबाँ के लिए

पासबाँ से गालियाँ और धक्के खाने के बाद वो ये कहते हुए पलट तो आते हैं कि— 'बड़े

बेआबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले', लेकिन कुछ ही अर्से के बाद बेइज़्ज़त होने फिर उसी दर पर पहुँच जाते हैं। दरयूज़ागरी और बार-बार बेइज़्ज़त होने के बावजूद फिर दरे-महबूब पर पहुँचने का ये अमल 'जिगर' के यहाँ नहीं पाया जाता। 'जिगर' की शायरी में जो आशिक़ है वो हौसलामन्द भी है और ख़ुद्दार भी। उसे अपनी इज़्ज़तो-नामूस प्यारी है, साथ ही वो महबूब को कोई आस्मानी प्राणी और ख़ुद जर्रा-ए-नाचीज़ हर्गिज़ नहीं समझता। 'जिगर' की शायरी का आशिक़ यानी ख़ुद 'जिगर' को अपने अस्तित्व का बोध है। उन्हें अपनी वक़्अत, अहमीयत और क़ीमत का बख़ूबी एहसास है। वो जानते हैं कि अगर उन्हें महबूब की ज़रूरत है तो ख़ुद महबूब को भी उनकी ज़रूरत है। इश्क़ के बग़ैर हुस्न बेकार है। अगर देखनेवाले ही न हों तो नज़ारा बेसूद है। बज़्मे-जानाँ में अपनी मौजूदगी पर वो महबूब के एहसानमन्द नहीं होते, बल्कि ख़ुद को उसकी महफ़िल की रौनक़ और ज़रूरत समझते हैं। 'जिगर' के बारे में ऊपर उल्लिखित विचारों का पता उनके इन अश्आर से चलता है—

हमीं जब न होंगे तो क्या रंगे-महफ़िल
किसे देखकर आप शर्माइएगा

हवा कुछ ऐसी ही चल गयी है
दिलों की दुनिया बदल गयी है

वो हमको मत्लूब कह रहे हैं
हम उनको तालिब बता रहे है

नियाज़े-आशिक़ी को नाज़ के क़ाबिल समझते हैं
हम अपने दिल को भी अब आप ही का दिल समझते हैं

अज़्म बेबाक अगर हो तो कहाँ की दूरी
हुस्न ख़ुद मुन्तज़िरे-इश्क़े-जवाँ होता है

'जिगर' का महबूब दूसरों से लाख बेहतर सही, लेकिन है तो माशूक़ ही, कभी-कभी वह सितम पर भी उतर आता है और 'जिगर' से बेरुख़ी बरतने लगता है। ऐसे मौक़ों पर 'जिगर' आम आशिक़ों की तरह रोने-बिसूरने, आहें भरने और इल्तिज़ा करने के बजाय एक आशिक़े-ख़ुद्दार की तरह महबूब से कहते हैं कि वो सितम का ये तरीक़ा अख़्तियार न करे, वर्ना तड़पाने के साथ-साथ वो ख़ुद भी तड़पेगा। वो ये भी स्पष्ट कर देते हैं कि आम आशिक़ों की मानिन्द उन्हें कमज़ोरो-नातवाँ न समझा जाय। किसी में इतनी हिम्मत नहीं कि उन्हें टेढ़ी नज़र से देखे। महबूब के लिए भी ये जुर्रत इसलिए हो **गयी कि वो उसके लिए**

मुहब्बत का जज़्बा रखते हैं। 'जिगर' अपने महबूब से साफ़ लफ़्ज़ों में कह देते है कि वो अपने हुस्न पर इतना ग़ुरूर न करे। अगर इश्क़ अपनी ज़िद पर आ गया तो दिल में हिज्र की ऐसी आग भड़कायेगा कि महबूब को रोते ही बनेगा। निम्नलिखित अश्आर 'जिगर' के इन्हीं ख़यालात के तर्जुमान हैं—

ज़िद पर इश्क़ अगर आ जाये
पानी छिड़के आग लगाये

ये क्या ताक़त कि हम पर डाल दे टेढ़ी नज़र कोई
मगर उस जाने-महबूबी को मुस्तसना समझते हैं

सितम इश्क़ में आप आसाँ न समझें
तड़प जाइयेगा जो तड़पाइएगा

ग़ालिब जब अपने मुँह में ज़बान रखने की इत्तेला देते हैं तो उनके लब पर एक इल्तिज़ा भी इस सूरत में मचलती नज़र आती है कि 'काश पूछो कि मुद्दआ क्या है', लेकिन 'जिगर' जब ये बताते हैं कि उनके मुँह में भी ज़बान है तो उनके तेवर कुछ और ही होते हैं। हस्रत या इल्तिज़ा के बजाय एक ख़ुद्दार इंसान अपने मान-सम्मान की हिफ़ाज़त करते हुए यूँ गोया होता है—

तंज़ो-तारीज़ की आख़िर कोई हद होती है
आदमी हूँ, मेरे मुँह में भी ज़बाँ है साक़ी

दूसरे शायर जहाँ अपनी बेइज़्ज़ती और महबूब की बेरुख़ी का इलाज सिर्फ़ आँसू बहाना समझते हैं और उसके लिए तर्क ये पेश करते हैं कि दिल कोई ईंट-पत्थर नहीं जो ग़म से घबरा के रो न दे, वहीं 'जिगर' अपने महबूब को चैलेंज करते दिखायी देते हैं कि अब वो इश्क़ का ग़ुरूर और उसकी ख़ुद्दारी भी देखेगा। इश्क़ अब महबूब को रुलाकर ही दम लेगा। इस क़िस्म के अश्आर में 'जिगर' के तेवर मुलाहिज़ा फ़र्माइए—

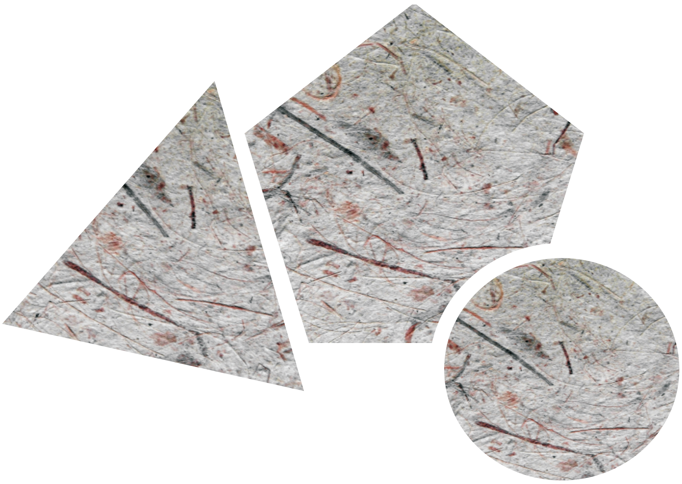
हमें भी न अब चैन आयेगा जब तक
इन आँखों में आँसू न भर लाइएगा

देख लेना इश्क़ की भी निख़्वतें
हुस्न की बरहममिज़ाजी आम है

वो दिन भी क़रीब हैं कि ज़ालिम
तू रोयेगा मुस्करायेंगे हम

'जिगर' मुरादाबादी का ये रवैया और तेवर ही उन्हें रिवायती आशिक़ से मुमताज़ करते हैं। रिवायती शायरी में आशिक़ के यहाँ जो जाँनिसारी पायी जाती है, 'जिगर' के यहाँ उसका दूर–दूर पता नहीं। रिवायती आशिक़ तो अपने मह्बूब की आँखों में आँसू देख ही नहीं सकता, ख़ुद मह्बूब को रुलाने की बात भला कौन करे। उसके सम्प्रदाय में तो मह्बूब की फ़र्माबरदारी ही वाजिब है। मह्बूब से उलझने, खिंचनें या उसे चैलेंज करने का जो रवैया 'जिगर' मुरादाबादी के यहाँ पाया जाता है, वो आशिक़ का वक़ार भी बहाल करता है और उर्दू–ग़ज़ल को एक नया अन्दाज़ भी अता करता है।

●●●





प्रभाकर सिंह
हिन्दी-विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ. प्र.)
मोबाइल : 09450623078

हिन्दी–साहित्य के अन्तर्गत लेखन, आलोचना तथा सम्पादन इत्यादि जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में प्रभाकर जी का विशेष हस्तक्षेप है। हिन्दी के साथ–साथ उर्दू–साहित्य–जगत् में हो रही महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर आपकी लिखित और मौखिक प्रतिक्रियाएँ प्राप्त होती रहती हैं। हिन्दी और उर्दू मे ंसमान गति से प्रिय और प्रशंसनीय कैफ़ी आज़मी पर ये लेख प्रभाकर जी की प्रवृत्ति का भी परिचायक है।

कैफ़ी आज़मी सिनेमा–जगत् के उन प्रमुख गीतकारों में हैं, जिन्होंनें उर्दू–शायरी के वक़ार को ग्लैमरस दुनिया में खोने नहीं दिया और फ़िल्मों में ऐसी ग़ज़लें लिखीं जो अदबी लिहाज़ से भी उच्चकोटि की हैं। जिस वैचारिक पृष्ठभूमि से कैफ़ी आज़मी आये थे, उसका दामन कभी नहीं छोड़ा। अपनी रोमैंटिक शायरी से लेकर देश–प्रेम तक के गीतों में कैफ़ी साहब का कोई जवाब नहीं।

प्रभाकर सिंह

ज़ेह्न के वास्ते साँचे तो न ढालेगी हयात

बीसवीं शताब्दी के हिन्दी और उर्दू के कवि–गीतकारों की परम्परा में कैफ़ी आज़मी का नाम बड़े अदब से याद किया जाता है। उर्दू की उम्दा शायरी के आइने से वो फ़िराक़ गोरखपुरी, जोश मलीहाबादी और जिगर मुरादाबादी के साथ देखे जाते हैं तो फ़िल्मी गीतकार के रूप में कम गीतों की रचना करके भी वे प्रथम श्रेणी के गीतकारों में शुमार होते हैं। उनके फ़िल्मी गीत प्राय: फ़िल्मी सिचुएशन के साथ फिट भी होते हैं और अपनी स्वतन्त्र पहचान भी बनाते हैं। हिन्दी फ़िल्म कवि–गीतकारों में कैफ़ी की परम्परा में शैलेन्द्र, साहिर लुधियानवी, नरेन्द्र शर्मा एवं शहरयार का नाम लिया जा सकता है। इन कवि–गीतकारों में एक बात समान थी कि इन्होंने हिन्दी–उर्दू के सरल–सहज शब्दों के सहारे लोकप्रिय गीतों की रचना की। कैफ़ी ने अपने फ़िल्मी गीतों में कबिताई का बख़ूबी प्रयोग किया है। उनके गीत अपने दौर में सराहे गये और आज भी बड़े चाव से सुने और सराहे जाते हैं— 'मिले न फूल तो काँटों से दोस्ती कर ली', 'बिछड़े सभी बारी–बारी', 'वक़्त ने किया क्या हसीं सितम', 'कर चले हम फ़िदा जानो–तन साथियों'; ऐसे ही फ़िल्मी गीत हैं जो हमारी संवेदनाओं को छूते हैं और यथार्थ को पहचानने की ताक़त देते हैं। ये गीत विपरीत परिस्थिति में समय और स्थितियों से सिर्फ़ समझौता करना ही नहीं सिखाते, बल्कि समय के सही मायने समझते हुए ज़िन्दगी से प्यार करने की सीख देते हैं।

कैफ़ी आज़मी के कवि–गीतकार व्यक्तित्व में प्रगतिशील कविता का गहरा असर दिखायी देता है। उनके गीतों में क्रान्तिकारी चेतना है तो प्रेम का पारिवारिक एवं सामाजिक चित्रण भी दिखायी देता है। क्रान्ति और प्रेम के गीतों में गहरा असर तभी आता है जब अपना सुख–दुख समाज का और समाज का सुख–दुख अपना बन जाता है। इन स्थितियों में रचनाकार का भाव–जगत् व्यापक हो जाता है और ये उदारता उसकी रचना को जन–जीवन के व्यापक भाव–क्षेत्रों से जोड़ देती है। कैफ़ी की नज़्मों में ये जज़्बा आद्योपान्त दिखायी देता है। उनके गीतों एवं कविताओं की इसी व्यापकता पर आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी 'उद्भावना' अंक- 63 (मार्च 2003) में कहते हैं कि— ''कैफ़ी साहब की कविताओं का

भाव–क्षेत्र बहुत व्यापक है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कि जो प्रगतिशील कवि रहे हैं या जो क्रान्तिकारी कवि रहे हैं, चाहे अँग्रेज़ी के हों, चाहे नेरूदा हों, चाहे उर्दू के जोश मलीहाबादी, फ़ैज़, मख़्दूम, मजाज़, कैफ़ी आज़मी हों, बंगला के नज़्रुल हों, हिन्दी के निराला, दिनकर; तो हम ये देखेंगे कि जो अच्छी क्रान्तिकारी कविताएँ लिखता है वही उत्कृष्ट प्रेम–कविताएँ भी लिखता है। ऐसी प्रेम–कविताएँ उन कवियों ने नहीं लिखीं जो प्रगतिशील नहीं हैं। हिन्दी में भी यही स्थिति है। निराला की प्रेम–कविताएँ तो अद्‌भुत हैं। दिनकर ने अन्त में 'उर्वशी' लिखी। कैफ़ी की कविताओं में भी यही है।'' ('कैफ़ी आज़मी की अज़्मत', पृ. 11)

कैफ़ी के फ़िल्मी गीतों में माटी की सोंधी महक है, अरबी–फ़ार्सी के शब्दों के साथ–साथ उनके गीतों में गाँव की बोली और मुहाविरों का प्रयोग बड़ी जीवन्तता से किया गया है। फ़िल्म 'काग़ज़ के फूल' की ये पंक्तियाँ— देखो ज़माने की यारी, बिछड़े सभी बारी–बारी।' इस गीत में 'बारी–बारी' में पुरबिया रंग की साफ़ झलक मिलती है। पूरब में ये मुहाविरा जिस ढंग से प्रयोग किया जाता है, ठीक वैसा ही इस गीत में बड़े सुन्दर ढंग से प्रयुक्त किया गया है।

फ़िल्मों के बारे में कहा जाता है कि ये चमत्कारिक अनुभूतिवाली विधा है, जिसमें जीवन से अधिक कल्पना का रंग होता है, किन्तु कैफ़ी साहब के फ़िल्मी गीत इस मिथक को तोड़ते हैं। उनके लिए फ़िल्म बाज़ार–व्यवसाय से ज़्यादा अपनी अनुभूतियों की सच्चाई को जनता तक पहुँचाने की कला है। उनका फ़िल्मी लेखन सदैव रचनात्मक रहा। इस बात को और ज़्यादा समझने के लिए उनकी नज़्मों–ग़ज़लों के समानान्तर उनके फ़िल्मी गीतों को रखकर देखा जाय तो उसमें व्यक्त उनकी रचनात्मकता, जज़्बात एवं दर्द अपने आप स्पष्ट हो जाते हैं। इसका एक प्रमाण ये भी है कि उनके द्वारा लिखे गये फ़िल्मी गीतों के संग्रह को उनकी नज़्मों एवं ग़ज़लों के संग्रह की तरह ही पसन्द किया गया। फ़िल्मों के लिए उन्होंने जो गीत लिखे वो 'मेरी आवाज़ सुनो' शीर्षक से पहली बार उर्दू में 1974 में और हिन्दी में 2001 में प्रकाशित हुए। इसके अतिरिक्त तीन संग्रह— 'झंकार', 'आख़िरे–शब' और 'आवारा सज्दे' नाम से छपे। बाद में इन तीनों संग्रहों से चुनी गयी रचनाओं का संकलन 'सरमाया' शीर्षक से छपा। 'आवारा सज्दे' की ये नज़्म जिसमें जेह्न को स्थितियों के साथ ढलने की बात कही गयी है—

ज़ेह्न के वास्ते साँचे तो न ढालेगी हयात
ज़ेह्न को आप ही हर साँचे में ढलना होगा

फ़िल्म 'अनोखी अदा' में इसी बात को कैफ़ी कुछ यूँ कहते हैं—

मिले न फूल तो काँटों से दोस्ती कर ली
इसी तरह से बसर हमने ज़िन्दगी कर ली

इस गीत में मनुष्य की शख़्सियत को महत्त्व दिया गया है। मनुष्य चाहे तो किसी भी स्थिति के साथ अपने को ढाल सकता है। उससे मुक़ाबला कर सकता है। इसी गीत में जब

वो आगे कहते हैं– 'ख़ुदा तलाश किया और बन्दगी कर ली', तो ख़ुदा तलाशना और उसकी बन्दगी करना, अर्थात् ख़ुदा मनुष्य की अभिव्यक्ति है इसलिए ख़ुदा को तलाशने के लिए दिखावे की ज़रूरत नहीं। हमारे व्यक्तित्व में ये जज़्बा होना चाहिए कि हम 'विरुद्धों का सामंजस्य' कर सकें; अपने ख़ुदा को ख़ुद ढूँढ़सकें और अपने जीवन–सौन्दर्य को तलाश सकें। ये गीत इसी ओर संकेत करता है।

कैफ़ी कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय मेम्बर थे। उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता उनकी निजी ज़िन्दगी में और रचनाओं में साफ़ तौर पर नज़र आती है। वे मेह्नतकश अवाम की आवाज़ बनकर शोषण के विरोध में अपनी रचनात्मकता द्वारा जीवन भर संघर्ष करते रहे। फ़िल्म 'घर का चराग़' में कैफ़ी महलों में रहनेवाले उन लोगों तक अपने प्रतिरोध की आवाज़ पहुँचाते हैं जो आम शोषित जनता का हक़ छीनकर महलों में बैठे हैं–

ऐ महलों में रहनेवालो, महलों से कभी निकलते हो
जिनके सपने छीने हो उनको मीठे सपने दो

कैफ़ी साहब के गीतों का एक और बेह्तरीन रूप भी है, जिसमें वे देशभक्ति और रूमानियत का मिला–जुला रूप प्रस्तुत करते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण फ़िल्म 'हक़ीक़त' के गीत हैं। ये फ़िल्म भारत–चीन युद्ध की पृष्ठभूमि में बनी है। वैसे तो फ़िल्म के सारे गीत प्रसिद्ध हुए किन्तु 'कर चले हम फ़िदा जानो–तन साथियों.....' गीत सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ। ये पंक्तियाँ एक देशभक्त सिपाही के जज़्बातों को बड़ी ख़ूबसूरती और गर्मजोशी के साथ प्रस्तुत करती हैं, जिसमें वो अपनी दुलहन रूपी धरती के सौन्दर्य को बचाने के लिए अपने इश्क़ और हुस्न दोनों को रुस्वा करने की बात करता है, अर्थात् उस दुल्हन रूपी धरती पर मर–मिटने की बात करता है। ये हुस्न और इश्क़ जैसे रोमानी शब्दों का प्रयोग करते हुए देशभक्ति की संवेदनशील अभिव्यक्ति है। कैफ़ी आज़मी के ऊपर ये आरोप लगाया जाता है कि उनके यहाँ रोमानी गीतों में वो जज़्बात नहीं है, जो उस श्रेणी के अन्य उर्दू–हिन्दी कवि–गीतकारों के यहाँ है, लेकिन ये बात पूरी तरह से सही नहीं है। उनके द्वारा लिखी गयी कई नज़्में–ग़ज़लें और गीत हैं जो उनकी रूमानियत और नाज़ुकख़याली का रूप प्रस्तुत करती हैं।

फ़िल्म 'हीर–राँझा' में प्रेमी की ये पुकार, जिसके लिए उसका ख़ुदा उसका प्रेमी ही है और वो भी उससे दूर है; उसके प्रेम की ऐसी तड़प है, जज़्बा है और उसे आशा है कि ये पर्वत और काँटें उसे अपने प्रेमी से मिलने में उसकी बाधा नहीं बनेंगे, उसकी सहायता करेंगे। गीत ट्रैजिक है लेकिन रूमानियत और प्रेम की सूफ़ियाना तासीर से भरा हुआ है, जहाँ प्रेमी ही सब कुछ है–

उनको ख़ुदा मिले है ख़ुदा की जिन्हें तलाश
मुझको बस इक झलक मेरे दिलदार की मिले

कहना न होगा कि कैफ़ी की ग़ज़लों, नज़्मों और गीतों की दुनिया की तरह उनके जीवन में भी न पूरब है, न पच्छिम। सारे इंसान उनके अपने हैं, जिनसे वे प्यार करते हैं। अपने इसी प्रगतिशील और ज़िन्दादिल ख़याल के साथ वो जीते रहे और अपनी रचनाओं के रूप में अपनी आवाज़ सुनाते रहे और आगे भी सुनाते रहेंगे–

मेरी दुनिया में न पूरब है न पश्चिम कोई
सारे इंसान सिमटकर आये खुली बाहों में



यतीन्द्र मिश्र
राज सदन, शृंगार हाट
अयोध्या, फ़ैज़ाबाद (उ. प्र.)
मोबाइल : 09415047710

यतीन्द्र मिश्र समकालीन हिन्दी-कविता के सशक्त हस्ताक्षर हैं। कविता से इतर इन्होंने कई महत्त्वपूर्ण सम्पादन-कार्य भी किये हैं। मुख्य कार्य-क्षेत्र हिन्दी आलोचना-जगत् में अनुषंगी कलाओं की समीक्षा प्रस्तुत करना है। इस क्रम में इन्होंने कई महत्त्वपूर्ण गायक-गायिकाओं, नृत्यांगनाओं, चित्रकारों आदि ललित कलाकारों पर विस्तार पूर्वक अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है। इनका ये लेख उसी महत्त्वपूर्ण सक्रियता का एक प्रतिफलन है। यतीन्द्र जी का ये लेख 'पहल' के किसी अंक में प्रकाशित हो चुका है।

बेगम अख़्तर पर कुछ अलग से कहने की आवश्यकता नहीं। शायद इन जैसी गायिकाओं ने ही अपनी गायिकी के बदौलत ग़ज़ल को और अधिक मक़्बूल बनाया और गायकी के क्षेत्र में साहित्य की इस विधा को भी गाने लायक़ बनाया। बेगम को सुनकर-समझकर ऐसा लगता है कि एक कला दूसरी कला का सहयोग करती है।

यतीन्द्र मिश्र

ज़िन्दगी का दर्द लेकर इन्क़लाब आया तो क्या

अवध, मूसीक़ी (संगीत) और ग़ज़ल का ज़िक्र छिड़ते ही कुछ नाम जो सहज ही ज़ेहन में उभरकर आते हैं, उनमें अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी (आगे चलकर बेगम अख़्तर के नाम से विख्यात) की कहानी का पाठ बेहद दिलचस्प है।

बेगम अख़्तर का ज़िन्दगीनामा कुछ इस क़दर सियाह और सफ़ेद हर्फ़ों में लिपटा हुआ संगीत के दीवानों के सामने बार-बार आता रहा है कि उसमें ये देख पाना बहुत साफ़ नहीं कि ज़िन्दगी के तमाम हिज्जों में ये अदाकारा-गायिका कहाँ कितना आसमान साफ़ स्लेट की तरह, हमारे कौतूहल हाथों में पकड़ा सकी है। तमाम अन्य गानेवाली बाइयों, तवायफ़ों की ज़मीन से जुड़ी कहानियों-क़िस्सों के चर्चे इस कारण भी बहुत रोचक और जानने लायक़ हमको लगते रहे हैं कि इन औरतों की दास्ताँ में ये छूट हमेशा से निभती आयी है कि उनकी सीधी-सादी जीवन की सपाटबयानी में कितना हिस्सा ऐसा है, जिस पर इतिहास की रोशनी पड़ती है और कितना कुछ हिस्सा वैसा है, जो गल्प के अँधेरे में डूबा रहता है। इसी अँधेरे और उजाले के बीच फँसे हुए कुछ लोगों की कहानियों में हमें चलते हुए बेगम अख़्तर की दास्ताँ भी मिल जाती है।

अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी के बारे में, उनके मिज़ाज के बारे में और उनकी बेह्तरीन गायकी के बारे में कुछ भी लिखने या ज़िक्र करने से ज़्यादा पेचीदा बात ये है कि हम ये जान पायें कि किस तरह एक बड़ी तवायफ़ की साहबजादी अपने फ़न और अदा से एक दौर विशेष में भारतीय अर्द्धशास्त्रीय गायन के शिखर पर बैठी थी। बेगम अख़्तर का सीधा-सा मतलब है पूरी शाइस्तगी के साथ ग़ज़ल, ठुमरी और दादरा की दर्द भरी उठान। इस पूरे विमर्श में, जहाँ हम अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी को बेगम अख़्तर बनते हुए देखेंगे, वहीं ये भी पायेंगे कि किस तरह से मौसिक़ी ने ख़ुद को तारीख़ (इतिहास) से अलग करके कुछ नया ढूँढ़ने की कोशिश की है। इस नयेपन की शिनाख़्त के रास्ते में हमें सबसे दुर्लभ और इतिहास-सम्मत तर्क इतिहासकार सलीम किदवई के इस बयान से मिलता है, जब वे कहते हैं— ''तवायफ़ों, बाइयों व राजदरबारों एवं नवाबों के यहाँ आसरा पानेवाली गायिकाओं के बारे में कुछ भी ढूँढ़ने से पहले हमें इस बात का ख़ासा ध्यान रखना चाहिए कि इनमें से

अधिकांश औरतों को अपने इतिहास को दोबारा से गढ़ना पड़ा है। इन औरतों को अपनी ज़ाती ज़िन्दगी में इतने झूठ बोलने पड़े हैं कि आसानी से इनकी बातों से ये निकालना बेहद मुश्किल है कि इनकी ज़िन्दगी में जो कुछ हुआ और घटा है, वो कितना सही और कितना ग़लत है।''

किदवई इन अर्थों में इस पूरी परम्परा पर ऐसी पैनी नज़र डालते हैं कि आपको अपने व्यक्तिगत पसन्द की किसी भी बाई या गायिका को जानने-समझने के लिए कम-से-कम एक मज़्बूत सिरा पकड़ में आ जाता है। हाँ, यहाँ ये बताना उतना प्रासंगिक है कि जब वे इस तरह का सार्वजनिक बयान इन गानेवालियों के बारे में जारी करते हैं, तो अपवाद स्वरूप जिस गायिका को बचाते या बख़्शते हैं— वो मलका पुखराज हैं। उनके अनुसार मलका पुखराज ने अपनी आनुवंशिकी पर कभी कोई झीना परदा नहीं डाला, बग़ैर इस बात की फ़िक्र किये कि ऐसी साफ़गोई उनके सार्वजनिक जीवन को बदरंग बना सकती है।

सलीम किदवई के बयान को ध्यान में रखकर यदि हम अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी के जीवन की गलियों में से होकर गुज़रें तो हमें फ़ैज़ाबाद से गया, कलकत्ता, लखनऊ होते हुए दिल्ली जाना होगा। ये बात अपने-आप में ख़ासी दिलचस्प है कि बड़ी तवायफ़ों ने कभी अपनी ज़िन्दगी के उन असहज पन्नों को समाज के आगे नहीं खोला, जिनसे उनकी बेटियों की ज़िन्दगी के उजाले में कुछ बदनुमा छीटें पड़ सकते हैं। हालाँकि ये भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि सन् 1910 से लेकर 1930 के बीच की महत्त्वपूर्ण व नामी-गिरामी बाइयों ने किस तरह आनेवाले समय को भाँप लिया था और इस बात को लेकर ख़ासी पसोपेश में थीं कि आनेवाला समय इस तरह के संगीत के आदर का समय नहीं है। और ये भी, कि भविष्य में देश आज़ाद हो जायेगा और स्त्रियों को ज़्यादा बेह्तर ढंग से अपना दामन फैलाने भर का आसमान हासिल होगा। यदि हम इतिहास पर ग़ौर से रोशनी डालें तो पायेंगे कि उस समय चार प्रमुख गायिकाएँ ऐसी थीं जो राजदरबारों में तो मुबारकबादियों के लिए आती-जाती थीं, मगर उनकी सोच इतनी प्रगतिशील थी कि उन्हें पता था कि बदलते हुए समय में उन्हें अपनी लड़कियों के लिए क्या करना है। इनमें नर्गिस की माँ जद्दनबाई, शोभा गुर्टू की माँ मेनकाबाई, नसीम बानो की माँ शमशाद बेगम एवं अख़्तरीबाई की माँ मुश्तरीबाई प्रमुख हैं। जद्दनबाई ने बदलते हुए समय को पढ़कर नर्गिस को अपनी परम्परा से बहुत मेह्नत के साथ अलग किया और उन्हें न केवल अँग्रेज़ी तबीयत की शिक्षा दिलायी, बल्कि सआदत हसन मण्टो, पृथ्वीराज कपूर, और मह्बूब खान जैसे नयी सोच के लोगों के साथ विकसित होने में मदद की। जद्दनबाई को इस बात का पूरा इल्म था कि नर्गिस भविष्य में एक बेह्तर अभिनेत्री बनेगी, इस कारण उन्होंने अपने समय की हर वे चीज़ें नर्गिस को सिखायीं जो चालीस व पचास के दशक में एक सफल अभिनेत्री बनने के लिए ज़रूरी मानी जाती थीं।

ये अपने में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि नर्गिस को हमेशा संगीत, साज़ और घुँघरू से दूर रखा। उन्हें डर था कि संगीत सीखकर कहीं उनकी बेटी गाने का पेशा न अपना ले। इसी तरह मेनकाबाई ने पारम्परिक 'कोर्ट सिंगिंग'(राजाश्रय में पलनेवाला संगीत) से शोभा गुर्टू का आत्मीय परिचय नहीं करवाया, बल्कि उन्हें सीधे ले जाकर उन दिग्गज संगीतकारों की सभाओं में खड़ा कर दिया, जिनका अनुसरण करते हुए धीरे-धीरे वे शास्त्रीय गायकी का एक मुकम्मल प्रतिनिधि चेह्रा बनकर उभरीं। शमशाद बेगम ने नसीम बानो को और फिर नसीम बानो ने अपनी बेटी सायरा बानो को, इस तरह ट्रेंड किया कि वे दोनों अपने समय की सफल अभिनेत्रियाँ बन पायीं। अब रह गयी बात अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी की। यहाँ इस तथ्य का स्पष्टीकरण ज़रूरी है कि अख़्तरीबाई के जीवन में सर्वाधिक प्रासंगिक मक़ाम उनकी माँ मुश्तरीबाई का ही है, जिनके कारण संगीत के इतिहास को ग़ज़ल, ठुमरी और दादरे के दर्द भरे एहसास से भरा हुआ एक ज़हीन पन्ना बेगम अख़्तर पर हासिल हुआ है। ये बेगम अख़्तर थीं, जिनकी परवरिश को बड़े क़रीने से मुश्तरीबाई ने तराशा था। ये बेगम ही थीं, जिन्हें मुश्तरीबाई तब सिनेमा में ले आयीं, जिस समय गौहरजान कर्नाटकी की फ़िल्में लोगों के सर चढ़कर बोलती थीं और उनके मुक़ाबले अदना-सी अख़्तरी को खड़ा कर दिया। मुश्तरीबाई— जिनको पूरा घर बड़ा साहब कहता था— घर की बालकनी पर बैठकर हर आने-जानेवाले पर नज़र रखती थीं कि अख़्तरी से मिलने कौन आया और कौन गया। मुश्तरी के ही बढ़ावा देने पर बेगम अख़्तर ही थीं, जो गया से कलकत्ते इसलिए गयी थीं कि पारसी थियेटर में काम कर सकें और बाद में बम्बई जाकर अपना मक़ाम सिनेमा में बना पायें। इस पूरे प्रकरण में एक बात बहुत साफ़ है कि तमाम वे महत्त्वपूर्ण औरतें, जिन्हें भारतीय सिनेमा और शास्त्रीय संगीत के आरम्भिक प्रतिनिधि चेह्रों के रूप में पहचान मिली— उनकी कामयाबी का अधिकांश सेहरा उनकी माँओं के हिस्से जाता है, जो अपने समयों में बेटियों के हित में विद्रोही बनकर आगे बढ़सकीं, मगर स्वयं की ज़िन्दगी को सुनहरे उजाले में लाकर देखने की हस्रत उन क़द्दावर औरतों ने कभी नहीं पाली।

यहीं से बेगम अख़्तर को समझने का प्रसंग आगे बढ़ता है। 1914 में जन्मीं अख्तरीबाई फ़ैज़ाबादी का आरम्भिक परिचय बस इतना ही था कि वे फ़ैज़ाबाद की नामी-गिरामी कोठेवाली मुश्तरीबाई की बेटी थीं। ये और बात है कि छोटी-सी बच्ची अख़्तरी में ये सब हुनर बचपन से ही मौजूद थे, जिन्हें बाद में धीरे-धीरे परिस्थितियों ने निखारकर एक अलहदा मैच्योर अख़्तरी में बदल दिया था। बचपन की उनकी ख़राब आर्थिक परिस्थिति ने सन् 1920 के आस-पास उन्हें कलकत्ता पहुँचा दिया था। इसका एक सुफल ये रहा कि मुश्तरीबाई ने उन्हें परम्परागत शास्त्रीय संगीत में तैयार होने के लिए पटियाला घराने के उस्ताद अता मुहम्मद ख़ाँ के सुपुर्द कर दिया। उस्ताद की शुष्क और गम्भीर गायकी से सीखकर अख़्तरी कभी पूरे मन से 'ख़याल' नहीं गा पाती थीं, बल्कि उनके समीप रहकर

ग़ज़ल, ठुमरी और दादरा में सिद्धहस्त होती रहीं। उस समय बचपन में 'ख़याल' ठीक से सीख न पाने की पीड़ा ने उन्हें दोबारा 'ख़याल' सीखने के लिए प्रेरित किया और इस बार किराना घराने के दिग्गज उस्ताद अब्दुल वाहिद ख़ाँ से 'ख़याल' की बारीकियों की सीखने में जी-जान से जुट गयीं। इस बार की अख़्तरी ज़्यादा समझदार और ज़्यादा गम्भीर थीं। अब पहले का-सा बचपन न था और उन्हें बख़ूबी मालूम था कि 'ख़याल'-गायकी की छोटी-से-छोटी बारीकी को गहराई से जाने बग़ैर पब्लिक के आगे परफार्म करने में उनके घराने की तौहीन है। वे 'ख़याल', ठुमरी, दादरा और ग़ज़ल सीखते हुए जवान हुईं और उनका आभ्यन्तर पुरबिया, अवधी और भोजपुरी के खनकते हुए शब्दों को सुन-सुनकर परिमार्जित होता रहा। आप यहाँ आसानी से इस बात की शिनाख़्त कर सकते हैं कि बेगम अख़्तर की पूरी गायकी में पूरब का अंग और उत्तर प्रदेश की गंगा-जमुनी की तहज़ीब की रंगत बार-बार नास्टैल्जिया की तरह हासिल होती है। उर्दू-शब्दों का रवानगी के साथ इस्तेमाल बेगम अख़्तर की गायकी की एक और बड़ी ताक़त है, जिससे उनके समकालीनों में उनका दबदबा अलग ढंग से क़ायम होता है।

ये अख़्तरीबाई की परिवरिश, उनकी नज़ाकत और कम उम्र में ढेरों शह्रों में अलग-अलग तरीक़ों से तालीम लेने का असर था कि बाद के दिनों में जब वे अपने संगीत और उम्र दोनों के ही लिहाज़ से सबसे नाज़ुक और ख़ूबसूरत दौर में थीं, भारत में अधिकांश नवाबों और राजा-महाराजाओं ने समय-समय पर उन्हें अपने दरबार की गायिका बनाया। हैदराबाद, भोपाल और रामपुर के नवाबों तथा कश्मीर और अयोध्या के राजघरानों में दरबारी गायिका के रूप में कई वर्षों तक रही बेगम अख़्तर की गिनती हमेशा बड़ी गायिकाओं में होती रही। अपनी पूर्ववर्ती एवं समकालीन गायिकाओं ख़ासकर अंजनीबाई मालपेकर, केसरबाई केरकर, सिद्धेश्वरी देवी एवं मोघूबाई कुर्डीकर जैसी दमदार उपस्थितियों के बीच बेगम अख़्तर ने अपना मक़ाम बनाया था। वे घराने में रहकर भी पूरी तरह घराने की नहीं थीं। साथ ही 'ख़याल', ठुमरी, दादरा और ग़ज़ल में पूरी तरह से डूबकर भी कहीं-न-कहीं किसी कोने में अपनी बेगम अख़्तरवाले टाइप को बचा ले जाती थीं। इस सन्दर्भ में उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ का एक दिलचस्प संस्मरण सुनाने लायक़ है, ख़ाँ साहब फ़र्माते हैं—''बेगम अख़्तर के गले में एक अजीब कशिश थी। जिसको कहते हैं 'अकार की तान', उसमें 'अ' करने पर उनका गला कुछ फट जाता था और यही उनकी ख़ूबी थी, मगर शास्त्रीय संगीत में वो दोष माना जाता है। एक बार हमने कहा कि— 'बाई कुछ कहो, ज़रा कुछ सुनाओ'। वो बोलीं— 'अमाँ क्या कहें, का सुनायें'। हमने कहा— 'कुछ भी'। बेगम गाने लगीं— 'निराला बनरा दीवाना बना दे'। एक दफ़े, दो दफ़े कहने के बाद जब 'दीवाना बना दे' में उनका गला खिंचा तो हमने कहा— 'अहा, यही तो सितम है तेरी आवाज़ का'। वो जो गला



दुगुन–तिगुन के समय लहरा के मोटा हो जाता था, वही तो कमाल का था बेगम अख़्तर में।'' गले का एक विशेष परिस्थिति में जाकर शुद्ध स्वरों को थोड़ा विकृत करते हुए तीव्र हो जाना या उसका सामान्य अर्थों में तान, मींड़, गमक लेते वक़्त फट जाना बेगम अख़्तर की कला में अद्‌भुत ढंग से रस–परिवर्तन करता था। लोग दम साधे सिर्फ़ उस क्षण के इन्तिज़ार में घण्टों बैठे रहते थे कि न जाने कब वो घड़ी आन पड़े। इतिहासकार सलीम किदवई बताते हैं कि— ''ये कोई नहीं जानता कि बेगम अख़्तर की अदायगी में वो स्थिति एकदम निश्चित तौर पर कब श्रोता मह्सूस करेंगे, मगर इतना अवश्य है कि ऐसा कोई जतन बेगम जानबूझकर नहीं करती थीं।'' उनके गले की आवाज़ का विशेष अन्दाज़ चूँकि नैसर्गिक और लगभग अप्रत्याशित था, शायद इसी कारण उस ज़माने से लेकर आज तक बेगम की ग़ज़लों को सुन–सुनकर जवान होती हुई पीढ़ी में उस अप्रत्याशित विद्रूप की खनक बसी हुई है। क़ुद्‌रत से पायी हुई ये विकृति ही बेगम अख़्तर की गायकी का अलंकार बन गयी है, फिर चाहे वो 'दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे' सुनकर कोई मह्सूस करे, चाहे 'ज़रा धीरे से बोलो, कोई सुन लेगा' जैसा दादरा सुनकर; सभी कुछ उनके अन्दाज़े–बयाँ को तफ़्सील से नुमायाँ करते हैं।



संगीत की व्याप्ति हमेशा से ही प्रबुद्ध समाज का अंग रही है। भारतीय शास्त्रीय गायन को वैसे भी अपरिमित मान्यता एवं श्रेष्ठता हासिल होने के बावजूद 'पक्का गाना' कहकर थोड़ा बच निकलने की परम्परा है। जो लोग अपने मनोविनोद के लिए संगीत सुनते आये हैं, उनके लिए शास्त्रीय गायन हमेशा ही कौतूहल की चीज़ रहा है, मगर बेगम अख़्तर के बारे में उन लोगों की मान्यता भी आश्चर्यजनक रूप से सम्मानजनक व प्रशंसापरक ही रही है, जो ऐसा सोचते आये हैं। ये भी हो सकता है कि बेगम अख़्तर का जीवन जिस तरह तमाम आड़ी–तिरछी रेखाओं और ढेरों उदास–चटख़ रंगों से बना और सँवरा है, उसमें एक श्रोता को आवाजाही के लिये थोड़ा अतिरिक्त स्पेस मिल जाता है। एक बाई की बेटी होना, तिस पर सिनेमा में एक्टिंग करना, उसके बाद धीरे–धीरे शास्त्रीय संगीत–समाज में केन्द्रीयता हासिल करना और रही–सही क़सर अपने खिलन्दड़े जीवन और खान–पान से उजागर कर देना— ये सबकुछ मिलकर बेगम अख़्तर को एक आश्चर्य की वस्तु में बदल देते हैं। सिगरेट और शराब पीते हुए अपने हमउम्र लोगों में बेलौस ढंग से उठने–बैठनेवाली बेगम अख़्तर की गायिकी भी दरअस्ल इसी कारण बड़े आश्चर्य और थोड़े संशय दोनों ही के साथ, आज तक सुनी, देखी और बरती जा रही है। इसमें श्रोता और प्रशंसकों को हमेशा इस बात की छूट भी मिलती रही कि वे ये तय कर पायें कि उनकी अपनी चहेती गायिका का अफ़्साना कितना अपना है और कहाँ तक बेगाना है। इस अपनेपन और बेगानेपन के बीच के द्वन्द्व में फँसी बेगम अख़्तर की गायकी हमेशा से नये सुननेवालों के बीच जिज्ञासा का बायस बनती रही है। ये उन तमाम सारे क़द्रदानों का मत है कि जब बेगम अख़्तर कोई ग़ज़ल गाती थीं तो पूरी मह्फ़िल को एकाएक जादुई–सा असर होने लगता था। सन् 1960-70 के

दौरान, जो बेगम का शिखर काल भी है, ऐसी नामी-गिरामी ग़ज़ल-गायिका को सुनना ख़ासा विस्मयकारी होता था। उन श्रोताओं द्वारा ये तय कर पाना मुश्किल था कि गाते वक़्त अख़्तरीबाई की आवाज़ कितनी ज़मीन से जुड़ी हुई है और कितनी मिथक की चीज़। ग़म, आँसू, दर्द, इश्क़ और जुदाई जैसे भावुक अन्तर्द्वन्द्वों को कितनी बुलन्दी मुहैया करायी जा सकती है— इस बात के लिए बेगम अख़्तर द्वारा गायी गयी ग़ज़लों की नये सिरे से पड़ताल की जानी चाहिए। गायकी में आम जीवन का दर्द किस क़दर शास्त्रीय गरिमा अख़्तियार करता है— बेगम अख़्तर इसकी मिसाल आप थीं। यहाँ ये स्पष्ट कहने में कोई संकोच नहीं कि जिस दौर में उनके समकालीन गायक और गायिकाओं ने अपने अद्‌भुत फ़न द्वारा 'पक्का गाना' की दुंदुभी बजायी हुई थी, उस समय अपने भावों की नज़ाकत में, गम्भीर साहित्यिक उर्दू-शब्दों की बंदिशों से बँधी मीर, ग़ालिब, मोमिन, दाग़ की ग़ज़लों को गाती हुई बेगम अख़्तर इन सबसे आगे निकल जाती थीं। संगीत के लिए जिस विशेष लय या तरन्नुम की बात अक्सर संगीत के उस्ताद करते हैं, उसका व्यावहारिक पक्ष इनकी गायकी से स्पष्ट होता था।

बेगम अख़्तर जैसी ज़हीन गायिका की कला को समझने के लिए हमें उनके जीवन के उन बन्द गलियारों पर पड़ी चिकों के पीछे भी झाँकना होगा जिनमें से निकलकर एक उम्दा फ़नकार अवध की सरज़मीं को हासिल हुआ है। बेगम अख़्तर से पहले लखनऊ तमाम तरीक़ों से संगीत की दुनिया में आदरणीय रहा है। इनमें हम मुख्य रूप से नवाब वाजिद अली शाह, बिन्दादीन महाराज, अच्छन महाराज आदि के नाम ले सकते हैं। अख़्तरीबाई अपने जीवन के आरम्भिक दौर में किस तरह प्रगतिशील सोच की और नये ज़माने से क़दम मिलाकर चलने का हुनर रखती थीं, ये उनके इस एक कार्य से मह्सूस होता है— ये वाक़िआ 1938 का है, साथ ही बेगम अख़्तर के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण वर्ष भी है। उस समय जब अधिकांश गानेवालियों और तवायफ़ों ने अपना ठिकाना(जिन्हें हम एक हद तक कोठा कह सकते हैं) पुराने लखनऊ के नख़्ख़ास और चौक इलाक़े में बना रखा था। अख़्तरीबाई पहली ऐसी दबंग महिला के रूप में मौसीक़ी के इतिहास में जानी जायेंगी, जिन्होंने एक झटके में इस पुरानी रिवायत को तोड़ डाला था। उन्होंने सीधे चौक की बदनाम गलियों से निकलकर नये लखनऊ की हज़रतगंज जैसी आधुनिक बस्ती और कुलीन लोगों के बीच रहना पसन्द किया। 1938 में उन्होंने हज़रतगंज के लालबाग़ में, ज़हूर बख़्श चर्च के पास अपना कोठा 'अख़्तर मंज़िल' बनाया। अब, आप ये देखिये कि वे बाक़ी तवायफ़ों की तरह कोठा बसाने के लिये चौक नहीं गयीं। बाक़ी गानेवालियों से ख़ुद को अलग किया और ऐसी जगह आकर अपने साज़ और संगीत का मजमा लगाया, जहाँ आसानी से शरीफ़ घरों के लोग आ सकें। 'अख़्तर मंज़िल' जहाँ बनाया गया था उसकी पृष्ठभूमि ये थी कि एक ओर ईसाइयों की मशहूर इबादतगाह ज़हूर बख़्श चर्च था, तो दूसरी ओर ये कोठा जहाँगीराबाद पैलेस के ठीक पीछे पड़ता था। करखा के ताल्लुक़ेदार चौधरी राशिद्दुदीन अश्‌रफ़, जो



जहाँगीराबाद के बहनोई थे, का घर भी 'अख़्तर मंज़िल' के बग़ल ही में पड़ता था। अब इस तरह के पड़ोस में आकर बसी अख़्तरीबाई के कोठे पर कोई भी शरीफ़जादा आसानी से कभी भी आ सकता था। वहाँ उस पर कोई उँगली नहीं उठा सकता था कि 'अरे मियाँ आप वहाँ उस समय क्या कर रहे थे'। ये जगह पुराने लखनऊ की किसी गली या चौराहे पर पड़ती तो बेगम के संगीत के दीवाने वहाँ चाहकर भी जा नहीं सकते थे। बेगम अख़्तर के इस प्रसंग की चर्चा इस ऐतिहासिक तथ्य को समझने के लिए ज़रूरी है कि इससे पहले या सन् अड़तीस के बाद आज तक कोई तवायफ़ हज़रतगंज के इलाक़े में बस नहीं पायी। प्रसंगवश यहाँ एक बात ये भी जानना ज़रूरी है कि एक बार फिर से सन् 1945 के आसपास उन्होंने हैवलॉक रोड पर अपना दूसरा घर बनाया। नाम इस बार भी उसे 'अख़्तर मंज़िल' ही दिया।

1938 इस मामले में बेगम अख़्तर के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण वर्ष है कि इसी वर्ष उन्होंने जहाँ एक ओर हज़रतगंज में अपना कोठा बसाकर एक आधुनिक रिवाज की नींव रखी, वहीं दूसरी ओर ये उनके गोमती के शह्र में पुनर्वास का साल है। अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी ने इसी के साथ बाक़ायदा राजदरबारों में होनेवाली संगीत-सभाओं में जाना शुरू कर दिया था और साथ-ही-साथ वे लखनऊ के बड़े घरानों के शादी-ब्याह के मौक़ों पर होनेवाली महफ़िलों तथा विभिन्न त्योहारों पर पड़नेवाली मज्लिसों में शिरकत करने लगी थीं। पुराने फ़ैज़ाबाद के बुज़ुर्गवार नकी हसन साहब— जिन्होंने फ़ैज़ाबाद में मुहर्रम के वक़्त कई बार मेंहदी के जुलूस में अख़्तरीबाई को 'नौहा'(मुहर्रम में हज़रत इमाम हुसैन की शहादत में गाया जानेवाला शोकगीत) गाते हुए सुना था— बताते हैं कि, वे इन मौक़ों पर बेहद दर्द भरा 'नौहा' गाते हुए गुलाबबाड़ी से बहू-बेगम का मकबरा, चौक, रिकाबगंज होते हुए कर्बला तक जाती थीं। पीछे-पीछे असंख्य शिया मुसलमान मातम करते हुए आगे बढ़ते थे। 1940 के आस-पास के उस ज़माने में मुहर्रम की सातवीं तारीख़ को फ़ैज़ाबाद की इस मज्लिस में शिरकत करनेवाली अख़्तरीबाई के 'नौहे' की कुछ आरम्भिक पक्तियाँ ही मिलती हैं, जिसका मुखड़ा कुछ इस प्रकार है— रन्डसाला न पिन्हाओ, मुझे बेवा न बनाओ।

बेगम अख़्तर प्रसंग के साथ यहाँ इस बात का ज़िक्र भी क़ाबिले-ग़ौर है कि हज़रत इमाम हुसैन की मार्मिक शहादत पर लिखे जानेवाले अधिकांश 'मर्सियों' और 'नौहों' को मीर अनीस ने लिखा है, जो स्वयं फ़ैज़ाबाद के थे और जिनकी चर्चा के बग़ैर मर्सियाख़्वानी और नौहाख़्वानी अधूरे हैं। मीर अनीस के अलावा उर्दू-साहित्य में मिर्ज़ा दबीर और 'सौदा' के मर्सिये भी मश्हूर रहे हैं। मीर अनीस का एक मर्सिया, जिसमें हज़रत इमाम हुसैन के सबसे नवजात बच्चे के वध का दर्द भरा वर्णन दर्ज हुआ है। शुरूआती पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

रोया किया जो प्यास से असग़र तमाम रात
छलका किया बहिश्त में कौसर तमाम रात

(जन्नत में प्यास बुझाने के लिए जो पवित्र पानी दिया जायेगा, उसे कौसर कहते हैं। आशय ये है कि इमाम हुसैन का बेटा प्यास से सारी रात कर्बला में रोता रहा और जन्नत में उसके लिये बराबर कौसर छलकता रहा।)

सातवीं तारीख़ के महत्त्वपूर्ण जुलूस के अलावा नकी हसन, पाँचवीं तारीख़ के उस जुलूस को भी ख़ास मानते हैं, जिस दिन फ़ैज़ाबाद में ताज़िया खुजूरवाली मस्जिद से निकलता था। इस दिन की ख़ासियत अख़्तरीबाई के मामले में इस कारण बनती है वे ताज़िये के आगे एक ख़ास 'नौहा' गाते हुए चलती थी और ज़ार-ज़ार रोती थीं। मुहर्रम की पाँचवीं तारीख़ पर गाया जानेवाला 'नौहा' अख़्तरी ने कभी भी, किसी वर्ष बदला नहीं। हर बार एक ही ढंग से, उन्हीं पँक्तियों को मज़हब के प्रति अपनी श्रद्धा दिखाते हुए गाया। ये पँक्तियाँ हैं—

आबाद हुई कर्बो-बला उजड़ा मदीना
या शाहे मदीना या शाहे मदीना

(कर्बला आबाद हुआ व मदीना उजड़ गया अर्थात् मदीना से हज़रत इमाम हुसैन कर्बला गये और शहीद हुए। इस तरह उन्होंने कर्बला को आबाद किया। ऐ मदीना के बादशाह तूने कर्बला को आबाद किया।)

इस दिन बेगम एक सेर आटे की आठ रोटियाँ बनाकर दान में देती थीं। रोटियों का सन्दर्भ आने पर, ये चर्चा भी मुनासिब है कि सन् 1942 में बनी फिल्म 'रोटी' के अधिकांश गाने बेगम अख़्तर ने गाये थे। 'फिर फ़स्ले-बहार आयी', 'रहने लगा है दिल में अँधेरा' तथा 'चार दिनों की जवानी' जैसे गीतों के लिए जानी जानेवाली इस फिल्म का ये दुर्भाग्य रहा है कि पर्दे पर कोई भी गाना शामिल नहीं किया गया।

गायकी में पूरे दमख़म के साथ स्थापित होने से पहले अख़्तरीबाई ने कुल आठ फ़िल्मों में अभिनय किया था। ये फ़िल्में थीं— 'एक दिन की बादशाहत', 'नल दमयन्ती', 'अमीना', 'मुमताज़ बेगम', 'जवानी का नशा', 'नसीब का चक्कर', 'रोटी' और 'जलसागर'। ये और बात है कि फ़िल्मों में उन्हें कोई सफलता हाथ नहीं आयी, मगर संगीत की दुनिया में अख़्तरीबाई धीरे-धीरे अपने पंख फैलाने लगी थीं। इस बात की चर्चा हम शुरूआत में ही कर आये हैं कि अख़्तरीबाई की समकालीन जितनी भी गायिकाएँ परिदृश्य पर थीं, वे सब-की-सब अपनी अदायगी और घरानेदारी में बड़ी मज़बूत थीं। मोगूबाई कुर्डीकर, सिद्धेश्वरी देवी और अंजनीबाई मालपेकर जैसी गम्भीर गायिकाओं के अलावा उस वक़्त की नामचीन गायिकाओं में जम्मू की कमला झरिया और बंगाल की अंगूरबाला एवं अनारबाला प्रमुख थीं। निम्मी आगरेवाली का गाना भी उस समय संगीत हल्क़ों में नये ढंग से शुमार हो ही रहा था कि राजकपूर के कहने पर उन्होंने गाना छोड़ दिया था और 'बरसात' फिल्म से अपने अभिनय-जीवन की शुरूआत 'निम्मी' नाम से की। गौहरजान इस मायने में कुछ अतिरिक्त आदर पाने लगी थीं, क्योंकि अपनी दमसाज़ गायकी के साथ-साथ वे देश को स्वाधीन करानेवाले कांग्रेस के नेशनल मूवमेण्ट में सक्रिय रूप से जुड़ गयी थीं।

इनके अलावा अपने-अपने ढंग से मलकाजान, जानकीबाई 'छप्पनछुरी', अनवरबाई 'लखनवी', रोशनआरा बेगम आदि का समय पूरे शबाब पर था। मलका पुखराज, अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी से थोड़ी वरिष्ठ थीं और दूर कश्मीर के महाराजा हरीसिंह के दरबार की प्रमुख कलाकार के रूप में काफ़ी समय तक विख्यात रहीं। वरिष्ठ संगीत आलोचक शीला धर का ये मत ध्यान देने लायक़ है कि बाद में(ज़ाहिर है, मलका पुखराज के कश्मीर छोड़कर पाकिस्तान चले जाने पर) कुछ दिनों तक बेगम अख़्तर भी कश्मीर राजदरबार की गायिका रहीं। रामपुर के नवाबी दिनों में वहाँ की रियासत के अन्तिम प्रधानमंत्री रहे कर्नल बशीर हसन ज़ैदी का अख़्तरीबाई के लिए कहना था कि अपनी तरह की विशिष्ट गायकी का पूरा बन्दोबस्त रखने के बावजूद, वे बेहद इम्पल्सिव थीं। ये सारे उद्धरण यहाँ मात्र इस बात को रेखांकित करने के उद्देश्य से कहे गये हैं कि गायकी, नफ़ासत और अदब के चलते अख़्तरीबाई का सिक्का फ़ैज़ाबाद से लेकर कश्मीर और दूर कलकत्ते तक चलता था।

अख़्तरीबाई की सफलता के इस दौर का आरम्भ उस क्षण से मानना चाहिए जब तीस के दशक के पूर्वार्द्ध में उन्हें मेगाफोन कम्पनी(कलकत्ता) की ओर से पहला बड़ा कांट्रैक्ट, लाँग प्ले रिकार्ड(एल.पी.) बनाने का मिला, साथ ही मेगाफोन कम्पनी ने अख़्तरी पर ज़ोर डाला कि वे फिल्में भी करती रहें। ऐसा इस कारण ही हुआ होगा कि क्योंकि तीस के दशक के पूर्वार्द्ध में सक्रिय इन म्यूज़िक कम्पनियों मस्लन— मेगाफोन, कोलम्बिया और ट्विन रेकार्ड्स जानते थे कि उनके द्वारा बनाये हुए गायिकाओं और बाइयों के रेकार्ड्स की बिक्री एकाएक बढ़जाती है, यदि वे अलग से सिने तारिकाएँ हों। शुरूआत में इसी वजह से गौहरजान कर्नाटकी, ज़ोहराबाई अम्बालावाली और सुरैया का फ़िल्मी कैरियर चमकने लगा था, क्योंकि अभिनेत्रियाँ बनने से अलग ये औरतें पेशेवर गायिकाएँ पहले थीं। मेगाफोन कम्पनी संगीत के जो इश्तिहार उस समय की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में छपवाती थी उसमें लिखा रहता था— 'मिस अख़्तरीबाई (फ़ैज़ाबाद) फ़िल्म स्टार'। अख़्तरीबाई के अलावा उनमें मिस कमला झरिया, अनीस ख़ातून (कानपूर) फ़िल्म स्टार, मिस कल्याणी 'कल्लो', मास्टर हनीफ़ क़व्वाल एवं मिस्टर इरशाद हुसैन की शिरकत रहती थी।

बेगम अख़्तर की गायकी एक हद तक फ़िक्रमन्द गायकी है। उन्हें सुनते हुए जो बात सबसे पहले दिमाग़ में आती है, वो यही है कि ग़ज़ल के मिस्रों की अदायगी हो या ठेठ पूरब अंग के दादरे की बन्दिश— सभी जगहों पर वे थोड़ी आत्मसजग और थोड़ी संशयग्रस्त नज़र आती हैं। उन्हें सुनते हुए हमें ये बार-बार लगता है कि कोई मूर्धन्य अपनी कला से ज़्यादा उस दूसरी कला के मर्म का उद्घाटन करने के लिए कुछ अतिरिक्त सतर्क है। जैसे उसे लगता हो कि संगीत, सुर और साज़ के आँगन में शब्दों की नैसर्गिक आभा कहीं धूमिल न हो जाये। बेगम अख़्तर राग, ताल और धुन से ज़्यादा उन शब्दों की बेहतर अर्थव्याप्ति के लिए भावों को प्रदर्शित करने में विश्वास करती थीं। उनकी ग़ज़लों या ठुमरियों के एल.पी. रेकार्ड या कैसेट्स सुनकर आसानी से ये बात समझ में आती है कि एक ग़ज़ल के किसी

मिस्रे को गाते समय उनके संगतियों का समूह अपने-अपने वाद्यों को कितना 'अण्डर प्ले' करता था। शब्दों को सलीक़े से संगीतबद्ध करके अर्थ का मर्म खोल देने की कोशिश ही उन्हें गायिका के तौर पर ज़ियादा बड़ा और विशिष्ट बनाती है। बेगम अख़्तर के हुनर का ये सबसे उज्ज्वल पक्ष है कि उन्होंने किसी गीत या बन्दिश पर अतिरिक्त बोझवाली गुलतराशी कभी नहीं की। उनकी कला का सौन्दर्य, गाये जा चुके गीतों के अर्थों की मनोहारी छायाओं के अन्दर से दीप्त होता था। संगीत को लेकर वे इतनी ज़्यादा सजग थीं कि एक मुन्ने ख़ाँ को छोड़कर जल्दी किसी तबला-वादक को अपनी संगत के लिए साथ नहीं लिया। उन्हें मालूम था कि मुन्ने ख़ाँ सिर्फ़ कला दिखाने भर के लिए ही नहीं, न ही गायक कलाकार पर चढ़जाने की ग़रज़ से तबला बजायेगा, बल्कि वो गायिका के साथ तान और आलाप के बीहड़ जंगल में चुपचाप पीछे-पीछे चला आयेगा। वो उसी तरह का काम करेगा जिस तरह का काम बन्दिशों में राग-रागिनियों की निश्चित मात्राएँ भर करती हैं। संगीत को गौण बनाते हुए, गायकी को मुख्यधारा में रखने का बेगम अख़्तर का ये तरीक़ा, उन्हें एक हद तक पं. मल्लिकार्जुन मंसूर एवं उस्ताद अमीर ख़ाँ जैसे दिग्गज कलाकारों की श्रेणी में पहुँचाता है। इन दोनों मूर्धन्य कला-साधकों की गायन-यात्रा में हमें इसी प्रकार की चिन्तना समायी हुई मिलती है। बेगम अख़्तर का गायन हमें इसी कारण जितना 'वैचारिक गायन' लगता है, उतना ही उनकी साफ़-सुथरी मुद्रा, विलम्बित का धैर्यपूर्ण चयन, गायन के मध्य उच्चारण की शुद्धता का ध्यान, तबले से निहायत कम खिलवाड़ एवं तीनों सप्तकों में क़रीने से ली गयी गमकयुक्त छोटी-छोटी दानेदार तानें, उन्हें सुर एवं लय के लोक में अप्रतिम किरदार बख़्शते हैं।

शकील बदायुँनी की ग़ज़ल 'ऐ मोहब्बत तेरे अंजाम पे रोना आया' बेगम अख़्तर की गायकी का एक हद तक पर्याय ही बन गयी है। उनके चाहनेवाले किसी भी महफ़िल में बिना ये ग़ज़ल सुने सन्तुष्ट नहीं होते थे। उनसे मिलने-जुलनेवाले अधिकांश लोगों का यहाँ तक कहना है कि बेगम के लिए ये ग़ज़ल नहीं थी, बल्कि उनके कंसर्ट का नेशनल एन्थम(राष्ट्र-गान) थी। हर एक व्यक्ति जो उनकी आत्मीयता के घेरे में आता था, किसी महफ़िल में जाने से पहले हमेशा मज़ाक़ में उनसे कहता था कि नेशनल एन्थम के अलावा आप आज क्या-क्या गायेंगी? या बेगम साहिबा महफ़िल भले ही कजरी और दादरा की हो लोग आपसे नेशनल एन्थम गवाये बिना नहीं मानेंगे। ये एक कलाकार की अपनी विधा के प्रति अटूट सिद्धहस्तता का एक छोटा-सा प्रमाण भर है कि किस तरह कला के क़द्रदान उस कलाकार द्वारा रची गयी श्रेष्ठता को बार-बार पकड़ने की कोशिश करते हैं।

एक कला इस सन्दर्भ में समाज के तमाम उन लोगों की असहायता का कारण होती है, जिसके साहचर्य में एक कौंध, एक तृप्ति, एक उम्मीद की भूमिका छिपी होती है। बेगम अख़्तर भले ही बार-बार शकील बदायुँनी की ग़ज़ल गाते हुए बहुत उत्साहित या भावोत्फुल्ल न होती हों, मगर उन्हें सुननेवाला व्यापक श्रोता-समाज अवश्य कला की

मायानगरी में फँसता है। वो उस विमुग्ध करनेवाली मिलावट में अपना कला-ऐश्वर्य गवाँता है जिसे एक शायर और गायिका ने मिलकर रचा है; और जिसके सम्मोहन से अब उम्र भर बेगम अख़्तर एवं शकील बदायुँनी बच नहीं सकते। अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी का जो ज़माना हम आज सिल्‌सिलेवार याद कर रहे हैं उसमें उस वक़्त की संगीत-दुनिया के एक रिवाज की निशानदेही बेहद ज़रूरी है। तवायफ़ें और बाइयाँ राजदरबारों में या ख़ुद के कोठों पर मह्‌फ़िलें दो तरीक़ों से सजाती थीं— 'बैठकी मह्‌फ़िल' तथा 'खड़ी मह्‌फ़िल'। 'बैठकी मह्‌फ़िल' का चलन ज़्यादा था, क्योंकि इसमें ठुमरी, दादरा, सादरा, होली और ग़ज़ल आदि का भावपूर्ण प्रदर्शन गायिका बैठे हुए करती थीं। बाइयों का भारी कपड़ा और शृंगार आम लोगों के आकर्षण का केन्द्र हुआ करता था, जिसे पेशबाज़ कहते हैं। 'खड़ी मह्‌फ़िल' कभी-कभार ही होती थी। जिसमें गानों की अदायगी थोड़े अंग-संचालन के साथ गायिका खड़े हुए करती थी। एक प्रकार से इसे हम मुजरे का प्रकार ही कह सकते हैं। संगतिये गायिका के पीछे-पीछे चलते थे, कभी-कभार तो दौड़ते भी थे। कब 'सम' आयेगा, कब 'ठेका' लेना है— इसका ख़ास ख़याल रखते थे। तबलानवाज़ों के तबले उनके कमर में कसे हुए आगे लटके रहते थे। गायिका घूम-घूमकर मह्‌फ़िल में अपने फ़न का रंग बिखेरती थी।

इतिहासकार सलीम किदवई बताते थे कि लखनऊ में 1938 से 1945 के दौरान अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी ने कुछ ताल्लुक़ेदारों, नवाबों एवं बड़े व्यावसायिक घरानों में थोड़ी-बहुत मह्‌फ़िलों में खड़ी ठुमरियों की हैं। सलीम किदवई के इस बयान को बेहद क़रीब रखकर संगीत अध्येता रीता गांगुली की ये रोचक स्थापना पढ़ी जा सकती है; उनका कहना है कि— ''पुराने समय की लगभग हर गायिका मस्‌लन हुस्नाबाई, मलकाजान, बड़ी मोतीबाई, गौहरजान, ज़ोह्‌राबाई, विद्याधरी, रसूलनबाई, जद्दनबाई, राजेश्वरी, सिद्धेश्वरी देवी तथा बेगम अख़्तर कथक नृत्य में पारंगत थीं एवं वे सभी औरतें इस नृत्य में प्रयुक्त होनेवाले अभिनय में हद दर्जे की कामयाब थी। ये अभिनयपरक नृत्य उन सभी की मह्‌फ़िलों में उनके ख़ुद के प्रदर्शन के लिए बहुत माक़ूल होता था, ख़ासकर ठुमरी की अदायगी के लिए।'' बेगम के सन्दर्भ में कही जानेवाली इन बातों के साथ ही यहाँ मलका पुखराज के जवानी के दिनों का आत्मीय संस्मरण याद आता है, जिसमें वे अपनी शुरूआती ज़िन्दगी इस तरह याद करती हैं— ''मैं अपने संगीत की तालीम के दिनों में कथक सीखने दिल्ली आयी थी। उस्ताद मम्मन ख़ाँ, जिन्होंने गौहरजान को भी कथक सिखाया था— ने मुझे विधिवत कथक सिखाना शुरू किया। वे सुबह हर रोज़ दस बजे आ जाते थे और मेरा उनके साथ रियाज़ लगातार दोपहर एक बजे तक चलता था। शास्त्रीय संगीत के सा, रे, ग, म, प, ध, नी, वाली सरल ज़िन्दगी में नृत्य की 'ता, थई, थई, तत' वाली बीहड़ दुनिया मुझे रोज़ ही थका डालती थी। मेरे नृत्य के उस्ताद का मानना था कि जब तक मैं नृत्य की बारिकियाँ और उसके तोड़े, टुकड़े, परन आदि सीखकर अपने पूरे शरीर पर नियंत्रण नहीं कर लेती तब तक मेरे ख़याल और ठुमरी की अदायगी में वज़न नहीं आयेगा।''

अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी के द्वारा की जानेवाली 'बैठकी महफ़िल' का सुन्दर चित्रण सत्यजित रे ने अपनी कालजयी फ़िल्म 'जलसाघर' में किया था। फ़िल्म के आरम्भ में नायक विश्वम्भर राय (छवि-विश्वास) की हवेली में एक महफ़िल सजी है, जहाँ अख़्तरीबाई पूरी गरिमा व सांगीतिक उत्कर्ष के साथ बन्दिश– 'हे भर-भर आयी मोरी अँखियाँ पिया बिन/ घिर-घिर आयी काली बदरिया/ धड़कन लागी मोरी छतियाँ पिया बिन' गा रही है। फ़िल्म का ये कलापूर्ण दृश्य जहाँ इस बात की ओर इशारा करता है कि किस तरह की महफ़िलें 'प्रिंसली इण्डिया' (नवाबों और महाराजाओं का भारतीय राज) के वक़्त होती थीं, वहीं दूसरी ओर इस दृश्य में ये संकेत भी छिपा हुआ है कि अख़्तरीबाई या उन जैसी तमाम उस ज़माने की शीर्षस्थ गायिकाओं के सार्वजनिक प्रदर्शन का स्तर कितना वैभवपूर्ण व गरिमामय होता था।

अगर हम रूपकों का सहारा लेकर बेगम अख़्तर को पारिभाषित करें तो पायेंगे कि वे संगीत की दुनिया की मीर तकी 'मीर' थीं, जिसे इस बात का गहराई से एहसास था कि उसने अपनी प्रगतिशील सोच के चलते कुफ़्र तक अपने हिस्से उठा रखा है। मीर जब कहते हैं– 'मीर के दीनो-मज़हब को अब पूछते क्या हो उनने तो, कश्क़ा खैंचा दैर में बैठा कब का तर्क इस्लाम किया'; तो यही बात पलटकर बेगम अख़्तर पर भी चरितार्थ होती है, जिन्होंने परम्परागत मुस्लिम परिवेश को एक तरह से जीकर भी नहीं जिया था। वे इबादत में यक़ीन करती थीं। रोज़ा रखना और मुहर्रम के दिनों में सोज़ख़्वानी करना उन्हें पसन्द था, ज़रूरी लगता था, मगर बेगम का एक पक्ष ये भी है कि सारे बन्धन से आज़ाद होकर उन्होंने अपनी मर्ज़ी से ख़ुद की शर्तों पर जीना स्वीकारा। अब्बासी साहब के साथ रहते हुए गृहस्थी का बोझ ख़ुद के कन्धे पर उठाया और अन्तिम समय में मीर, मोमिन, ज़ौक़ और ग़ालिब के जीवन की भयावह तल्ख़ियाँ बयाँ करनेवाली अर्थपूर्ण ग़ज़लें भी डूबकर गायीं। कुछ लोग मानते हैं कि एक नवाब ख़ानदान के यहाँ का बुलावा उनके चौखट तक गया था, मगर अपनी सुन्दर मानसिकता के चलते कभी दूसरी औरत बनना पसन्द नहीं किया व उनके घराने की ओर खुले दरवाज़े को हमेशा के लिए बन्द कर लिया। ऐसे तमाम मौक़ों पर ग़ालिब की ये ग़ज़ल बेगम अख़्तर की स्थिति पर चस्पाँ करने लायक़ लगती हैं–

इब्ने-मरियम हुआ करे कोई
मेरे दुख की दवा करे कोई

अख़्तरीबाई-विमर्श का एक अध्याय उस दिशा में भी खुलता है जहाँ उत्तर प्रदेश का लोकरंग बिखरा हुआ है। कजरी, चैती, होरी, बारामासा, ठुमरी, दादरा, सादरा और मुबारकबादी की प्रस्तुतियाँ उन्हें एक अलग ही रंगत का फ़नकार बनाती हैं। रागों पर आधारित बोलों और संगतियों द्वारा दिये जानेवाले संगीत में सायास की गयी संक्षिप्ति ने उनके कजरी, झूला आदि गायन को अपने शुद्धतम रूप में एक ख़ास क़िस्म का 'बेगम अख़्तर टाइप' बना दिया है। इस बेगम अख़्तर टाइप को हम अवध के उस संगीत से सीधे जोड़कर देख सकते हैं जिसमें यहाँ के कुछ ख़ास इलाक़ों की धुनें गूँजती हुई सुनायी देती हैं।

लखनऊ के अलावा फ़ैज़ाबाद, कानपुर, मिर्ज़ापुर, बनारस, इलाहाबाद, मथुरा, वृन्दावन और अयोध्या में गायी जानेवाली पारम्परिक लोकधुनों पर आधारित कजरियों, झूलों, चैतियों और दादरों का लम्बा-चौड़ा इतिहास है। इस बात के भी पर्याप्त ऐतिहासिक साक्ष्य हैं कि बनारस की गौनिहारिनों से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और जयशंकर प्रसाद जैसे दिग्गज साहित्यकर्मियों की गहरी मित्रताएँ भी रही हैं। भारतेन्दु ने तो ढेरों कजरियाँ लिखी हैं, जिनमें 'प्यारी झूलन पधारो झुकि आये बदरा' तथा 'कहनवा मानो ऐ दिलजानी' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बेगम अख़्तर की गायी हुई प्रमुख कजरियों मस्लन 'पपीहा धीरे-धीरे बोल', 'घिरकर आयी बदरिया राम', 'छा रही काली घटा जिया मोरा ललचाये है', 'हमार कही मानो हो राजा जी' तथा 'कोयलिया मत कर पुकार' को इसी परम्परा में गिनना चाहिए। 'कोयलिया मत कर पुकार' में बेगम अख़्तर की 'पुकार तान' अपने शिखर पर है, जहाँ से प्रेम और विरह को तर्जीह देती हुई व्यथा पूरी लोक-गरिमा के साथ उद्घाटित हो पायी है।

उर्दू-अदब से निकलकर आनेवाली महत्त्वपूर्ण ग़ज़लों का ख़ज़ाना बेगम अख़्तर का खाँटी अपना इलाक़ा था। एक तरह से उनके पीहर का घर। एक लड़की के लिए जिस तरह उसका मायका बहुत भरोसे के लायक़ और ख़ुशी देनेवाला होता है, कुछ-कुछ उसी तरह ग़ज़ल की दुनिया में जाकर कुछ कर दिखाने में बेगम को महारत हासिल थी। उन्हें ख़ूब मज़ा भी आता था। उनके द्वारा गायी हुई सारी ग़ज़लों को इत्मीनान से टटोलने पर एक राज़ हमारे हाथ लगता है। ये ग़ज़लें निहायत सादे ढंग से बेगम ने ना गाकर ख़याल की उदारता के साथ गाया है। एक प्रकार से उनकी गायी ग़ज़लों की अदायगी; कहीं 'ख़याल' और 'ठुमरी' के बीच का अवकाश भरती हुई सुनायी देती है। जिस तरह कोई कलाकार 'ख़याल', 'ठुमरी', 'दादरा' एवं 'चैती' में ताल व राग के स्थापत्य को बहुत धैर्य के साथ पिरोता चलता है, ठीक उसी प्रकार बेगम अख़्तर ने भी अपनी ग़ज़लों की दुनिया को अलग करते हुए, 'ख़याल' व 'ठुमरी' की परम्परा में सहज ढंग से विकसित होने दिया है। उनके यहाँ ग़ज़ल, 'ठुमरी' की छाँव में सुस्ताकर ताज़ा दम होती है। 'ठुमरी', 'ख़याल' का पल्लू पकड़े हुए 'विलम्बित' की नाव में बैठकर हौले-हौले किनारे तक जाती है; और 'ख़याल' विचार की आभा में दीप्त होता हुआ अपने अन्य सहृदय मित्रों— कजरी, चैती, झूला के समवाय में पल्लवित होता है। अगर एक वाक्य या परिभाषा में बेगम अख़्तर की तमाम सारी गायकी को व्याख्यायित करना हो तो कहना पड़ेगा— उनकी गायकी सुर के बड़े अहाते में 'विलम्बित' की आराधना है; जिसमें गाहे-ब-गाहे कभी कोई उर्दू या हिन्दी का शब्द किसी बन्दिश या मिस्रे के बीच में पड़कर पूरी संरचना को आलोकित कर डालता है। इसी कारण ग़ालिब, मीर, मोमिन, ज़ौक़, सौदा, फ़िराक़ और फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' से उनका रिश्ता बेहद ख़ुशनुमा रहा है। एक गायक कलाकार और भाषा व अदब के ऐसे हुनरमन्दों का मेल, इतना जीवन्त और सहज, बड़ी मुश्किल से नसीब होता है। 'ज़िक्र उस परीवश का' तथा 'दाइम पड़ा हुआ तेरे दर पर नहीं हूँ मैं'(ग़ालिब), 'वो जो हम में तुम में क़रार था'(मोमिन), 'उल्टी हो गयी

सब तद्बीरें' एवं 'दिल की बात कही नहीं जाती'(मीर तकी 'मीर'), 'उम्र आने में भी है'(दाग़), 'सर में सौदा भी नहीं'(फ़िराक़ गोरखपुरी), 'शामे-फ़िराक़ अब न पूछ' एवं 'आये कुछ अब्र कुछ शराब आये'(फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़'), 'इतना तो ज़िन्दगी में किसी की ख़लल पड़े'(कैफ़ी आज़मी) तथा 'कुछ तो दुनिया की इनायात ने दिल तोड़ दिया'(सुदर्शन फ़ाक़िर) जैसी तमाम सारी ग़ज़लों को सुनते हुए लगता है कि बेगम अख़्तर को जितनी फ़िक्र अपनी गायकी को लेकर होती थी उतना ही ख़याल उन्होंने इन शायरों की भावनाओं का किया है।

उर्दू-कविता की बह्र में व उसके रदीफ़-क़ाफ़िये का, संगीत की स्वर लहरियों के साथ किस तरह रिश्ता बनाया जाये कि शायरी की बेपनाह आवाज़ और कशिश, संगीत के साथ मिलकर और ज़्यादा निखर सकें; इन दोनों छोरों पर बेगम अख़्तर बख़ूबी कामयाब हुई हैं। या हम इस तरह कह सकते हैं कि उन्होंने अपने इन फ़िक्रमन्द शायरों के साथ बड़ा दिलकश याराना निभाया है। बेगम अख़्तर के बारे में ये आम प्रचलित धारणा रही है कि वे बिन्दास और मुखर होने के साथ ही दिलफेंक और यारबाश महिला थीं। उनकी यही चारित्रिक विशेषता अधिकांश उन जगहों पर भी आसानी से व्यक्त हुई है जो उनके सांगीतिक जीवन को अनमोल बनाती है। शायरी, कविता, शब्द, जज़्बात और समाज की जितनी महीन पकड़ इन पुरानी गायिकाओं के जीवन में हमें आसानी से दिखायी देती हैं, दुर्भाग्यपूर्ण ढंग से आज के आधुनिक समय में मिलनेवाली गायिकाओं में इस बात की तमीज़ ढूँढ़पाना बेहद टेढ़ा काम है।

ग़ज़लों की समृद्ध दुनिया से अलग, बेगम अख़्तर के पास 'ठुमरी' की भी बड़ी विरासत मौजूद थी। वे 'ठुमरी' के दोनों प्रकार— 'बोल बनाव की ठुमरी' एवं 'बोल बाँट की ठुमरी' को एक ही अधिकार से गा लेती थीं। 'कौन तरह से तुम खेलत होरी', 'तुम जाओ जाओ मोसे न बोलो', 'चली मोरी नैया किनारे-किनारे', 'अँखियन नींद न आये', 'मैं तो तोरे दमनवा लाती', 'जब से श्याम सिधारे', 'न जा बलम परदेस', 'पिरायी मोरी अँखियाँ' और 'बौरा रे! हम परदेशी लोग' में बेगम अख़्तर के सांगीतिक ज्ञान की परम्परागत उत्कृष्टता को आसानी से परखा जा सकता है। अपने गायन से ठुमरी के विरह का सहज उद्दीपन जगा पाना, बेगम के बायें हाथ का खेल था। उन्हें पता था कि संगीत की अलग-अलग विधाओं में कहाँ-कहाँ से अपनी व्यक्तिगत सोच को प्रवेश कराना है। पूरे पाँच दशकों में फैले हुए उनके संगीत-जीवन का हम अध्ययन करें तो ये चीज़ आसानी से समझ में आती है कि बेगम ने सालो-साल किस मज़्बूत मानसिक तैयारी के साथ 'रियाज़' किया होगा। 'रियाज़' उन जैसी ढेरों गायिकाओं के लिए 'इबादत' की तरह ही रहा होगा, जिनमें इस बात की फ़िक्र मिट जाती है कि कब किस समय की नमाज़ क़ज़ा हो गयी और 'रियाज़' करनेवाले हाथों शुद्ध स्वर का एक कण भी पूरी तरह पकड़ में नहीं आया। इबादत का भूलना और तरन्नुम में लीन होकर अपना अहं गँवा देना— दोनों ही स्थितियाँ बड़े फ़नकारों को नसीब होती हैं। ये बात और है कि सुनते हुए

कभी आप–हम में से कोई ऐसी किसी स्थिति का शिकार हो जाये।

अवध की होली हो, पूरब का ठेठ दादरा या बनारसी रंग में डूबा हुआ निर्गुण— बेगम अख़्तर की निगाह और पसन्द से कुछ भी अछूता नहीं रहा। 'ई सुन्दर सारी मोरी नइहर मा मइल भई / का लइके जइबै गवनवा हाय राम/ हे गंगा मइया तोहे पियरी चढ़इबै /पियवा से कइदा मिलनवा हाय राम' जैसे प्रसिद्ध निर्गुण को पारम्परिक लय में जिस अद्भुत कौशल के साथ उन्होंने गाया, या 'केसरिया अंगिया रंग डालो जी' में ब्रज का फाग खेलने की मनोहारी दृश्यावली को उकेरने में वे भूल गयीं कि यहाँ होली में इतनी उन्मुक्त मस्ती जीनेवाली वे ख़ुद मुहर्रम के मौक़ों पर नौहे के समय कितना रोती हैं। और उन सबसे अलग दादरा की सुरीली ज़मीन पर 'आये बलम करम मोरे जागे' तथा 'बलमवा तुम क्या जानो प्रीत' जैसी बन्दिशें गाती हुई वे किसी भी तरह की तुच्छता, अजनबीपन और उदासी के परे चली जाती हैं; प्रेम और ऐश्वर्य का एक गह्वर संसार रचने के लिए। इन चीज़ों को सुनना संगीत के अथाह संसार में थोड़ा–सा ही सही, मगर सुर की जागीर पाने जैसा है, जिसमें श्रोता और गायक के बीच का वो फ़ासला मिट जाता है कि कोई जान पाये कि इस असाधारण दुनिया में कौन फ़नकार है और कौन उसका मुरीद।

तमाम सारे कलाकारों, बुद्धिजीवियों एवं संगीत–प्रेमियों के मत बेगम अख़्तर की गायकी के बारे में भले ही अलग–अलग हों, मगर एक बात लगभग ज़ियादातर लोग ढकी–छिपी ज़बान से कहते रहे हैं कि उनका किसी के प्रेम में पड़ना अक्सर लाज़िमी होता था। प्रेम उनके लिए एक शग़्ल था या अपनी गायकी को पुनर्विश्लेषित करने का ठिकाना, मुकम्मल ढंग से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हालाँकि प्रख्यात संगीत आलोचक शीला धर ने बेगम अख़्तर पर अपने एक लेख में स्पष्ट रूप से उनके प्रेम में पड़ने पर उँगली रखी है। 'द कुकिंग आफ म्युज़िक' पुस्तक में वे कहती हैं— Akhtari Bai could not live without ishq, without being love. If love did not happen, she had to invent it. And if the love she experienced was devoid of pain, she had to invent the pain too. ये बात अपने आप में जितनी ख़ूबसूरत है, उतनी ही बेगम अख़्तर की आन्तरिक झलकियाँ देने में सक्षम। बावजूद इसके, उनके बहुतेरे चाहनेवाले जिन्होंने उन्हें क़रीब से देखा है— बताते हैं किसी प्रकार की चालाकी या हल्कापन बेगम अख़्तर के व्यक्तित्व में कभी नहीं रहा। प्रेम में अगर वे पड़ी भी होंगी तो उसका सबसे रचनात्मक प्रभाव आज हम यही पाते हैं कि तमाम सारी अपनी गायी हुई ग़ज़लों और ठुमरियों में उन्होंने बहुत नफ़ासत के साथ इश्क़ और मुश्क के गुलबूटे खिलाये हैं।

अख़्तरीनामा तब तक अधूरा है, जब तक वो इस बात की पड़ताल नहीं कर लेता कि अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी की जीवन–यात्रा में बेगम अख़्तर कहाँ किस मक़ाम पर आकर शामिल हुई हैं। अख़्तरीबाई फ़ैज़ाबादी ने काकोरी के ताल्लुक़ेदार एवं पेशे से एक इज़्ज़तदार वकील इश्तियाक़ अहमद अब्बासी साहब के साथ

निकाह किया था। अब्बासी साहब का ख़ानदान लखनऊ में पुराने रईसज़ादों में गिना जाता था और हैवलॉक रोड पर उनकी एक बड़ी-सी कोठी थी। अख़्तरीबाई के लिए ये निकाह एक बेहद दिलचस्प मोड़ पर इस कारण पहुँचा कि अब तक संगीत के हल्क़ों में तवायफ़ मुश्तरीबाई की बेटी के रूप में जानी जानेवाली अख़्तरी, एकाएक इश्तियाक़ अहमद अब्बासी के साथ जुड़कर बेगम का ओहदा पा सकीं। इस निकाह की एक और सुन्दर आज़माइश ये थी कि अब्बासी साहब ने कभी भी बेगम अख़्तर को गाने के लिए नहीं रोका। सिर्फ़ इतनी पाबन्दी लगायी कि शादी-विवाह के मौक़ों पर गायी जानेवाली मुबारकबादी एवं राजा-महाराजाओं के दरबारों में होनेवाली 'खड़ी महफ़िल' वे आगे नहीं करेंगी। दिल्ली, कलकत्ता एवं लखनऊ की तमाम महत्त्वपूर्ण महफ़िलों एवं मजलिसों में ए.आई. आर. (आकाशवाणी) व दूरदर्शन के अधिकांश कार्यक्रमों में तथा देश-विदेश में होनेवाली महत्त्वपूर्ण संगीत सभाओं में उनका गाना अपने शौहर के साथ रहते हुए भी बदस्तूर जारी रहा। 'अख़्तर मंज़िल' की यात्रा अब उनके शौहर के घर 'मतीन मंज़िल' में आकर पूरी हुई थी, जिसका सबसे सकारात्मक पक्ष यही है कि अख़्तरीबाई को अपने सांगीतिक जीवन को निभाते हुए बेगम अख़्तर के रूप में कायान्तरण करने में मदद मिल पायी थी।

बेगम अख़्तर ने एक महत्त्वपूर्ण काम ये किया था कि उन्होंने उस युग में, जब अधिकांश शिष्य समाज 'गण्डा बन्धन' केवल मर्द उस्ताद या गुरू करते थे, आगे बढ़कर अपनी शिष्याओं को 'गण्डा बाँधा' था। ये सन् 1952 का वाक़िआ है जब पहली बार किसी महिला गायिका ने बाक़ायदा उस्ताद का दर्जा पाया व अपनी दो प्रमुख शिष्याओं शान्ती हीरानन्द एवं अंजलि चटर्जी को 'गण्डा बन्धन' के द्वारा शिष्य बनाया। इसके पूर्व कोई ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता जिसमें किसी गायिका ने यह रवायत चलायी हो। एक हद तक अपने चचेरे भाई एवं प्रगतिशील आन्दोलन के प्रणेता सज्जाद ज़हीर 'बन्ने मियाँ' की तरह बेगम अख़्तर भी आधुनिक ख़यालात की महिला थीं। उनके इस अभिनव प्रयोग के बाद ही महिला कलाकारों द्वारा 'गण्डा बन्धन' का विधिवत् सिलसिला आरम्भ हुआ।

बेगम अख़्तर की पूरी तस्वीर बनाने में कुछ और भी जोड़ने की ज़रूरत है; मस्लन ये बात कि वे और विख्यात संगीत-निर्देशक मदन-मोहन आपस में गहरे दोस्त थे। दोनों घण्टों फोन पर बात करते थे, जिसमें अधिकांश बार मदन-मोहन अपनी बनायी हुई नयी धुनों को उत्साहित होकर बेगम को सुनाते थे। ये भी कि उन्हें मदन-मोहन की बनायी 'दस्तक' फिल्म के गाने की धुन 'हम हैं मता-ए-कूचा-ओ-बाज़ार की तरह' विशेष प्रिय थी। ये तथ्य भी कम लोग जानते होंगे कि विक्रम सेठ के महत्त्वाकांक्षी उपन्यास 'ए सुटेबुल ब्याय' की चरित्र सईदा बाई बेगम अख़्तर के जीवन से प्रेरित है। 'मेरा गाँव मेरा देश' फिल्म का गीत 'मार दिया जाय कि छोड़ दिया जाय' उन्हें बेहद पसन्द था। अक्सर अपनी शिष्याओं

से कहती कि गाओ और मुझे 'मार दिया जाये' गाना सुनाओ। फिल्मी संगीत में शास्त्रीयता की पक्षधर रहीं बेगम अख़्तर 'पाकीज़ा' के गानों से क़तई प्रभावित न थीं। उन्हें लगता था कि इस फिल्म के गाने बस यूँ ही हैं। अपने समकालीनों में उस्ताद अमीर ख़ाँ का बेहद सम्मान करती थीं और हरदम कान पर हाथ रखकर ही उनके बारे में अपने मुँह से कोई लफ़्ज़ निकालती थीं। मेंहदी हसन की गायकी से प्रभावित बेगम अख़्तर को उत्तर प्रदेश के संस्कार गीतों से विशेष लगाव था और ये भी कि उन्होंने यहाँ अवध के अपने लोगों से बेपनाह मुहब्बत की। शायद अपनी इसी तबीयत के कारण ग़ालिब के जिस शेर को इबादत की निगाह से देखा-पढ़ा और जीवनभर सराहा वो शेर था— 'इश्क़ से तबीअत ने ज़ीस्त का मज़ा पाया/ दर्द की दवा पायी दर्दे-बेदवा पाया'। ये बेगम अख़्तर के जीवन का ही रोचक प्रसंग है कि अपने संगीत-जीवन के शुरूआती दौर में उनका पहला ही पब्लिक कंसर्ट पूरे तीन घण्टे तक बैठकर सरोजिनी नायडू ने सुना था और उनसे ये कहा था कि आज मैंने आपको दम साधकर सुना है, कल आप मुझे सुनिएगा। मेवाती घराने के प्रबुद्ध गायक पण्डित जसराज की संगीत प्रेरणा भी बेगम अख़्तर ही थीं, जो अपने बचपन में बमुश्किल छः वर्ष की उम्र से उनकी गायकी के क़ायल थे।

बेगम अख़्तर को जाननेवाले लोग बताते हैं कि कभी किसी समकालीन कलाकार से उन्होंने ईर्ष्या के हद तक चली जानेवाली प्रतिस्पर्धा नहीं की। हर एक शिष्या या उनसे मिलनेवाली कम उम्र की स्त्रियों को 'बिटिया' कहकर पुकारती थीं। ये उनकी ज़बान में अवधी का घरेलूपन था, जो सामाजिक व्यवहार के समय अपनी तहज़ीब की नुमाइन्दगी कर देता था। उस ज़माने में जब अधिकांश गानेवाले फ़नकारों को 'हिन्दू-संगीत' एवं 'मुस्लिम-संगीत' के संकीर्ण दायरों में डालकर बहुतेरे लोग उनका मूल्यांकन सतही तौर पर करने लगते थे; ये बेगम अख़्तर जैसी कलाकार की महत्त्वपूर्ण उपस्थिति थी जो इस तरह के किसी खाँचे में समा नहीं पायी, बल्कि 'अवध' के संगीत के बड़े रंगपटल पर चमक सकीं। वो एक ऐसी परम्परा का वाहक बनीं जिसका एक सिरा नवाब वाजिद अली शाह की ठुमरियों और ग़ज़लों के समृद्ध दरबार तक जाता था तो दूसरा सिरा अवध के ग्रामीण अंचलों में दूर तक पसरे हुए आम के पेड़ों, झूलों और बौरायी हुई कोयलिया के घोसले में शरण पाता था।

बेगम अख़्तर को मात्र एक गायिका या अभिनेत्री मानकर देखने से संगीत के इतिहास को पूर्णता नहीं मिलती। उनकी जैसी महिला के जीवन में ये देख पाना, इतिहास, संस्कृति और समाज की निगाह से बड़ा प्रासंगिक है कि तवायफ़ की दुनिया से निकलकर आनेवाली लड़की, किस तरह समाज के बने-बनाये बन्दोबस्त में अपने रहने के लिए अपनी तरह से तोड़फोड़ करती है और बाई के लिबास से गुज़रकर बेगम बनने का बाना अख़्तियार करती है। बेगम अख़्तर होने की प्रासंगिकता इससे एकाएक कई गुना बढ़जाती है कि गाने-बजानेवालों का पुराना समाज, नये युग में किस तरह अपने

इतिहास, परम्परा और वर्तमान को पुनर्व्याख्यायित करता है मिथक व किंवदन्ती बन चुकी पुरानी व्यवस्था को कितना जीवन्त और सम्माननीय ओहदा हासिल होता है; इसके लिए हमारे समाज में मौजूद बेगम अख़्तर जैसे चरित्र हमेशा याद किये जाने योग्य बने रहेंगे। बेगम अख़्तर की कला के सर्वोत्तम क्षणों का जब कभी आगे भी नये ढंग से मूल्यांकन होगा तब 'एक दिन की बादशाहत' या 'नसीब का चक्कर' की अख़्तरी याद नहीं आयेंगी, इश्क़ के अंजाम का जायज़ा लेनेवाली श्रेष्ठ गायिका का चेह्रा उभरेगा।

तमाम अन्य तवायफ़ों के अफ़्सानों से अलग, अख़्तरीबाई का ज़िन्दगीनामा दरअस्ल इस कारण भी प्रशंसनीय ढंग से साहित्य-कला-संगीत की दुनिया के लोग याद रखेंगे, क्योंकि सिर्फ़ उन्हें याद करते हुए वे एक प्रकार से मीर, ग़ालिब, मोमिन, से लेकर ठुमरी, ग़ज़ल कजरी के साथ पुराना फ़ैज़ाबाद, पुराना लखनऊ और पुरानी दिल्ली भी याद कर सकेंगे।



कुमार निर्मलेन्दु
जिला आपूर्ति अधिकारी,
हरदोई (उ. प्र.)
मोबाइल : 09415248712

कुमार निर्मलेन्दु इस वक़्त जनपद हरदोई में जिला आपूर्ति अधिकारी हैं। इनके आवास पर आप जायें तो सरकारी फ़ाइलों के साथ-साथ एक छोटी-सी लाइब्रेरी भी दिखायी देगी। प्रशासनिक स्थानान्तरणों के कारण अधिक तो नहीं, किन्तु कुछ-न-कुछ साहित्यिक सामग्री हमेशा साथ रहती ही है। कुमार निर्मलेन्दु उन गिने-चुने अधिकारियों में से हैं जो वृत्ति पाने के बाद भी अपनी प्रवृत्ति नहीं छोड़ते। कहने का आशय यह है कि जिस विषय और जिस क्षेत्र का व्यापक अध्ययन करके कोई व्यक्ति प्रशासनिक अधिकारी बनता है, उपरान्त में उसी अध्ययनशीलता को एकाएक बिल्कुल छोड़ देता है। कुमार निर्मलेन्दु ने ऐसा नहीं किया। आज भी अतिव्यस्त प्रशासनिक दायित्वों के दरमियान वे अपने इस मश्ग़ले के लिए वक़्त निकाल लेते हैं।

जहाँ तक इस लेख का प्रश्न है तो फ़िराक़ साहब के बारे में कोई परिचय देना यहाँ ज़रूरी नहीं। उनके व्यक्तित्व-कृतित्व को कौन नहीं जानता। इन पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है और बहुत कुछ बाक़ी है।

कुमार निर्मलेन्दु

उर्दू शायरी के कीर्तिस्तम्भ : फ़िराक़ गोरखपुरी

हर उक़्दए-तक़्दीरे-जहाँ खोल रही है
हाँ ध्यान से सुनना ये सदी बोल रही है

रघुपति सहाय फ़िराक़ गोरखपुरी(**1896-1982** ई.) सदी की आवाज़ थे। उनकी शायरी ने पूरी शताब्दी पूरे युग को वाणी दी। युग की पीड़ा, घुटन, संघर्ष, कुछ पाने की ललक और फिर उसके लिए भारी जद्दोजहद, न मिलने की कचोट, अतृप्ति और उनके बरअक्स सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द एवं परम्पराबोध— फ़िराक़ की शायरी इन सबका संश्लेष है। जोश मलीहाबादी के शब्दों में— ''जो शख़्स तस्लीम नहीं करता कि फ़िराक़ की अहम शख़्सियत हिन्दुस्तान के माथे का टीका, उर्दू-ज़बाँ की आबरू और शायरी की माँग का सिन्दूर है, वो निरा घामड़ है।'' हिन्दी-कविता और उर्दू-शायरी का कथ्य और उसकी भाषा किस हद तक एक हो सकती है, फ़िराक़ की शायरी इसकी सबसे मुकम्मल नज़ीर है—

आकाश के मन्दिर में तेरा दर्शन है
स्वप्नों में चराग़े-सरमदी रौशन है
रुख़सारों में पहली सुब्ह की नर्म दमक
मुखड़े पे तेरे अजब सुहानापन है

फ़िराक़ ने उर्दू-शायरी में भारतीय परम्परा को व्याख्यायित करनेवाली अन्तर्धारा का प्रतिनिधित्व किया। 'बज़्मे-ज़िन्दगी रंगे-शायरी' की भूमिका में फ़िराक़ ने लिखा है— ''जीवन का काव्यात्मक और कलात्मक अनुभव प्राप्त करना और दूसरों तक इस अनुभव को पहुँचाना साहित्य का एकमात्र लक्ष्य है। हिन्दू संस्कृति और इस संस्कृति के मिज़ाज ने मुझे ये अनुभव कराया कि प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध, घरेलू जीवन, सामाजिक जीवन, प्रकृति के दृश्य, धरती, नदियाँ, सागर, पहाड़, लहलहाते खेत, बाग़ और जंगल, अग्नि, हवा, सूर्य, चन्द्रमा, सितारे, मौसम का जुलूस— किसी भी ईश्वर, पैग़म्बर, धार्मिक ग्रन्थ, काबा या काशी से कहीं अधिक दिव्य और पवित्र हैं।''

प्रेम और सौन्दर्य विषयक यही काव्यानुभूति फ़िराक़ को शायरे-जमाल और शायरे-इश्क़ बना देती है। फ़िराक़ ने अपनी शायरी में जहाँ एक ओर भारतीय देवी-देवताओं

का आख्यान प्रस्तुत किया—



रश्के–दिले–कैकेई का फ़ित्ना है बदन
सीता के बिरह का कोई शोला है बदन
राधा की निगाह का छलावा है कोई
या कृष्ण की बाँसुरी का लहरा है बदन

माता तेरे फ़र्ज़न्द भरत का किरदार
वो तख़्तो–ताज छोड़ने का ईसार
रहते हुए राम की ग़रीबुल्वतनी
ठोकर से क़दम के वो अहल्या–उद्धार

वहीं दूसरी ओर फ़िराक़ ने भारतीय समाज में व्याप्त अगतिशीलता पर प्रहार करके प्रगतिशील पाश्चात्य विचारों को अपनाने की वकालत भी की—

ख़ुदा को भूल गया हूँ बना के सौ काबे
बुतों को तोड़ के रक्खी बिनाए–बुतख़ाना

फ़िराक़ व्यष्टि के बरअक्स समष्टि की चेतना के शायर हैं। वे कहते हैं कि शायरी मांसल–यौन–प्रेम को शब्दबद्ध करना भर नहीं है। शायरी तभी शायरी है जब उसमें मानवीय दुर्बलताएँ भी रौशन होकर इतनी प्रकृत, सहज और मासूम लगें कि वो भी पवित्रता की एक अनुभूति बन जायें—

जो उलझी थी कभी आदम के हाथों,
वो गुत्थी आज तक सुलझा रहा हूँ।
अजल भी जिसको सुनकर झूमती है,
वो नग़्मे ज़िन्दगी के गा रहा हूँ।

फ़िराक़ मानते थे कि ईश्वर की कोई भी इबादत 'स्वांत: सुखाय' नहीं हो सकती उसे सदैव 'बहुजन हिताय' होना चाहिए। वे पूरी दुनिया की घड़कन को भारतीयता की साँसों के साथ सम्पृक्त पाते थे—

अभी कुछ और हो इंसान का लहू पानी,
अभी हयात के चेह्रे पे आबो–ताब नहीं
जहाँ के बाब में तर दामनों का क़ौल है ये,
ये मौज मारता दरिया कोई सराब नहीं

फ़िराक़ आज की दुनियावी तरक़्क़ी को अधूरा मानते हैं, क्योंकि उनकी चिन्ता में वो ग़ुर्बतज़दा–फ़ाक़ाकश समाज बसता था जो प्रगति और विकास से कोसों दूर था। यही कारण है कि वे प्रगतिशील आन्दोलन से जुड़े, लेकिन उनके चिन्तन की धुरी है इश्क़, मुहब्बत, भाईचारा और आपसी समझदारी—

एक दुनिया दर्द तस्वीर निकली, इश्क़ को
कोहकन और क़ैस का क़िस्सा समझ बैठे थे हम
रफ़्ता-रफ़्ता इश्क़ मानूसे-जहाँ होता चला
ख़ुद को तेरी हिज्र में तन्हा समझ बैठे थे हम

कोई आपाधापी नहीं है। वे धीरे-धीरे दुनिया में बदलाव की चेतना के विकास के पक्षपाती हैं। प्रेम-भाव के विकास(इश्क़ की तरक़्क़ी) में ही वास्तविक परिवर्तन और प्रगति की बात फ़िराक़ जैसा शायर ही सोच सकता था।

भारतीय पुनर्जागरण की भावनात्मक और बौद्धिक चेतना का प्रकटीकरण जितना फ़िराक़ की उर्दू-शायरी में हुआ उतना किसी अन्य शायर में दुर्लभ है। वे कला की प्राच्य एवं पाश्चात्य परम्पराओं से पूर्णत: परिचित थे इसीलिए अपने कला विषयक चिन्तन में उन्होंने दोनों का संश्लिष्ट रूप प्रस्तुत करने की कोशिश की। अँग्रेज़ी-साहित्य विषयक अपने विषद ज्ञान के कारण ऐसा करने में उन्हें मदद मिली। इसके साथ ही भारतीय संगीत-परम्परा और उसके राग-स्वर से भी वे भली-भाँति परिचित थे। नायिका-भेद, संयोग-वियोग आदि— भारतीय काव्य-परम्परा के तमाम तत्त्व उनकी उर्दू-शायरी को बेह्तरीन और विशिष्ट बनाते हैं। प्रगतिशील आन्दोलन के शुरूआती दौर में ही वे जोश मलीहाबादी के करीब आ गये थे। इस निकटता ने उनकी शायरी को नया आयाम दिया—

मेरा हरीफ़ सिवा 'जोश' के नहीं कोई
बहुत हैं यूँ तो फ़ने-शायरी के दावेदार

फ़िराक़ ने लिखा है कि— "मुझे उर्दू-काव्यसाहित्य में और गद्यसाहित्य में भी अच्छी-से-अच्छी, सुन्दर-से-सुन्दर और ऊँची-से-ऊँची चीज़ें मिल चुकी थीं और मिलती रहती थीं। इन बातों के होते हुए भी मुझे मज्मूई एतबार से एक असन्तोष का आभास होता रहता था। शायद इस कारण से कि मेरे अन्दर हिन्दू-विचारों और हिन्दू-संस्कृति की गहरी-से-गहरी बहुमूल्य-से-बहुमूल्य सच्चाइयाँ और अनुभूतियाँ विद्यमान थीं, जो उर्दू-कविता में कम ही मिलती थीं। हिन्दू-संस्कृति का मिज़ाज और उस मिज़ाज की ध्वनि उर्दू-कविता में कदाचित् ही मिलती थी।" अलबत्ता इसीलिए वे एक साथ पुरानी परम्परा को तोड़ते हैं और नयी परम्परा गढ़ते भी हैं। वे अपनी उर्दू-शायरी में भारतीय धर्म-दर्शन की सगुण परम्परा से रूपक चुनते हैं—



दिलों को तेरे तबस्सुम की याद यूँ आयी
कि जगमगा उठे जिस तरह मन्दिरों में चिराग़

फ़िराक़ की शायरी में अँग्रेज़ी, उर्दू-फ़ारसी अदब और संस्कृत तथा हिन्दी की काव्य-परम्परा के एक साथ दर्शन होते हैं। संस्कृत तथा हिन्दी छन्द-विधान से उन्होंने उर्दू-साहित्य को परिचित कराया। उन्होंने पहली बार उर्दू में दोहे लिखकर एक नयी परम्परा का

सूत्रपात किया। भक्तिकाल और रीतिकाल का मर्मज्ञ होने के नाते उन्हें दोहों की रचना में अपूर्व सफलता मिली और निदा फ़ाज़ली जैसे शायरों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। जोश मलीहाबादी, जिगर मुरादाबादी, हफ़ीज़ जालन्धरी, हस्रत मोहानी, असग़र गोण्डवी, फ़ानी बदायुँनी जैसे अपने समकालीन उर्दू–शायरों के बीच फ़िराक़ ने अपनी अलग पहचान बनायी और एक बड़े वर्ग द्वारा आधुनिक उर्दू–शायरी में एक मूर्धन्य ग़ज़लगो के रूप में जाने–माने और पहचाने गये।

क़ासिम हुनर
ग्राम : किठावाँ, पोस्ट : धरई
सलवन, रायबरेली (उ. प्र.)
मोबाइल : 09919118252

क़ासिम हुनर शह्र की चहल-पहल, चमक-दमक से मुक्त ग्रामीण क्षेत्र के एक जूनियर विद्यालय में अध्यापक हैं। ख़ाली समय में खेतीबारी और शायरी करते हैं; शायरी भी ऐसी कि अच्छे-से-अच्छे उस्ताद दाद दें। 'बज़्मे-इशाते-अदब' नाम से एक संस्था भी चलाते हैं। हमारे विशेष आग्रह पर आपने ये तन्क़ीदी मज़्मून लिखा है।

क़ासिम हुनर ने ये लेख अपने उस्ताद वफ़ा सलोनवी के उस्ताद हक़ बनारसी पर लिखा है। ये लेख ख़ास तौर से उनके मज्मूअए-कलाम 'फ़रियादे-नग़्मा' के हवाले से है। ये लेख एक साथ दो उद्देश्यों की पूर्ति करता है- पहला तो अपने उस्तादों के प्रति श्रद्धांजलि और दूसरा अपेक्षाकृत कम समीक्षित हुए शायर पर तब्सिरा करना। हक़ बनारसी साहब शायरों के उस वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं जो अपना प्रचार-प्रसार ख़ुद नहीं करता है। चाहनेवालों ने शेर और ग़जलों को हिफ़्ज़ करके जहाँ चाहा वहाँ पहुँचाया। आगे भी हम क़ासिम हुनर से ऐसे ही कामों की उम्मीद करते हैं।

क़ासिम हुनर

अल्लामा 'हक़' बनारसी का शेरी आहंग

ये हक़' है कि अल्लामा 'हक़ बनारसी' की शायरी हक़ पर आधारित है। उनका हर शेर उनकी हस्सास और ख़ुद्दार तबीअत का तर्जुमान है। आपकी शायरी में तसन्नो(बनावट) का कहीं दख़्ल नहीं है। रस्मीयत से गुरेज़ है। वो ख़लाओं में कलाबाज़ियाँ नहीं खाते, बल्कि ज़मीन से जुड़ी हुई शायरी करते हैं। मेरे उस्ताद हज़रत शराफतउल्लाह 'वफ़ा' सलोनवी जो 'हक़' साहब के लायक़-ओ-फ़ायक़ शर्गिदों में एक हैं, फ़र्माते हैं—

गुलो-बुल्बुल में हम ज़ेह्नों को उलझाया नहीं करते
नयी नस्लों को लोरी दे के बहलाया नहीं करते
हक़ायक़ ज़िन्दगी के पेश कर देते हैं शेरों में
फ़लक से हम सितारे तोड़कर लाया नहीं करते

'हक़' साहब के शागिर्दे-रशीद के अश्आर से 'हक़' साहब के शेरी मिज़ाज पर रोशनी पड़ती है। मौलाना हस्रत मोहानी ने फ़र्माया है—

शेर दर अस्ल है वही 'हस्रत'
सुनते ही दिल में जो उतर जाये

इस शेर की रोशनी में अगर 'हक़' साहब की शायरी पर गहरी नज़र डाली जाये तो पता चलता है कि 'हक़' साहब की शायरी में वाक़ईयत है, सच्चाई है, वालिहानापन है। सिर्फ़ तख़य्युल का ही वो अनुकरण नहीं करते, बल्कि शेर को मक़्सदीयत का पैरहन अता करते हैं। अश्आर की बेसाख़्तगी आपके शेरी फ़न को आशकार करती है। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि 'हक़' साहब ने जिस स्तर की शायरी की है उस स्तर से नीचे अपनी ज़िन्दगी के किसी गोशे को देखना पसन्द नहीं किया। ये बात महज़ रस्मी और ज़बानी नहीं, बल्कि इसके लिए मैं कई मुस्तनद हवाले पेश करता हूँ, जो मेरी राय की दलालत करते हैं। नीचे उद्धृत दो अश्आर से 'हक़' साहब की हक़गोई, उनके कलाम की मौलिकता-नवीनता और किसी मज़्मून को ख़ूबसूरत शेरी जामा पहनाने के फ़न की तर्जुमानी होती है—

तू तो हर चेह्रे को आईना बना देती है
ऐ ग़रीबी कोई रक्खे तेरा पर्दा कैसे

मुझसे तो ग़ैरते-अफ़्लास भी बेची न गयी
लोग कर लेते हैं ईमान का सौदा कैसे

राजेन्द्र बहादुर 'मौज' का एक शेर है—

नुमाइश उसके जल्वों की ज़मीं से आसमाँ तक है
वहीं तक देख सकता है नज़र जिसकी जहाँ तक है

शेर के दूसरे मिस्रे के आईने में जब मैं अपना जायज़ा लेता हूँ तो मह्सूस करता हूँ कि मेरी नज़र ही कितनी व्यापक है और मेरी सीमित-संकुचित दृष्टि 'हक़' बनारसी का तआरुफ़ कराने में क्या हक़ अदा कर सकती है, लेकिन जिस शायर की शान में फ़ख़्रे-हिन्दोस्तान, शहंशाहे-तग़ज़्ज़ुल ख़ुमार बाराबंकवी ने कसीदा पढ़ा हो और हुर्मतुल इकराम, मुशीर झंझानवी डॉ. वलीमुल्हक़ अंसारी, नज़ीर बनारसी, डॉ. बशीर बद्र और ऐसी ही कई क़दआवर अदबी शख़्सियात ने जिस शायर की प्रशंसा में अपने क़लम की रोशनाई को ख़र्च करने पर फ़ख़्र मह्सूस किया हो, उस शायर का दुनिया-ए-अदब में क्या मक़ाम होगा, इसका अन्दाज़ा आप बख़ूबी कर सकते हैं। हुर्मतुल इकराम साहब का नज़रिया मुलाहिजा फ़र्मायें—

" 'हक़' की ग़ज़ल दाख़िलीयत की नुमाइन्दगी के बावस्फ़ अपने को ग़मे-जानाँ के हिसार में मुक़य्यद नहीं रखती, बल्कि ग़मे-दौराँ और ग़मे-हालात के इज़्हार को भी उतनी अहमियत देती है, लेकिन शेरी ख़सायस का दामन छोड़े बग़ैर। इसीलिए उनकी ग़ज़ल में ग़महा-ए-रोज़गार की अक्कासी का अन्दाज़ा दूसरे शोअरा से काफ़ी मुख़्तलिफ़ है। 'हक़' की ग़ज़ल उन हिस्सी तज्रबों का आईना है जो शायर की ज़ात नीज़ उसके मुतनव्विअ कवायफ़ो-अलायक़ से इबारत होता हैं। 'हक़' ने 'मीर'-ओ-'फ़ानी', दोनों की ख़ुशनवाइयों और तल्ख़नवाइयों का ज़ायक़ा चखा है और उसे अपनी दिलशिकस्तगी-ओ-अलमकेशी के नाज़ुक पैमानों में नये रंग से समोया है। उनकी ग़ज़ल कहीं-कहीं 'मोमिन' का पर्तौ लिये मिलती है, मगर ये ज़ियादा गहरा नहीं। 'हक़' की शायरी में वतन का ज़िक्र बार-बार आता है जिसमें एक नौअ की तल्ख़ का माना शिद्दत भी है। नीज़ वतन की याद मुख़्तलिफ़ पैराये और पैरहन बदलती है। वो एक आम इंसान की तरह वतन को भी याद करते हैं और हमवतनों की तरफ़ से मुहाजिर का ख़िताब मिलने पर कबीदा और आज़ुर्दा भी होते हैं। बिला शुबहा ख़ाके-वतन से हर शख़्स ख़्वाह किसी मर्तबा या शख़्सीयत का हामिल हो, लगाव फ़ित्री होता है। जिसकी जड़ें क़ल्ब की गहराइयों तक पहुँचती हैं, मगर शायर की नज़ाकते-एहसास का तज्ज़िया बआसानी नहीं किया जा सकता है। 'हक़' ने भी यादे-वतन की ख़ुशकोशी और अर्बाबे-वतन की बेइल्तिफ़ाती को ऐसे अन्दाज़ में पेश किया है जो उनके ज़ख़्मख़ुर्दा शायराना एहसास का इज़्हार करता है।

इसी तरह 'हक़' की शायरी में बेमेह्रिए-अहबाब की हिकायत-ओ-शिकायत भी, जो उर्दू-ग़ज़ल का मख़्सूस मौज़ू रही है, तरह-तरह के लिबास में जल्वागर होती है। 'हक़'

की एक ख़ूबी ये भी है कि वो एक मज़्मून को कई रंग से अदा करने पर क़ादिर हैं, जो हर मर्तबा नयी दिलकशी के साथ सामने आता है और ये भी बताता है कि इस क़िस्म के शख़्सी तज्रबे शायर के एहसास को किस तरह छेड़ते और झिँझोड़ते हैं। 'हक़' की ग़ज़ल में वो कसक पूरी क़ूवत से कारफ़र्मा हैं जो दिले-गुदाख़्ता का अतीया होती है और उनके आँसू हों या आहें, दोनों में फ़रियाद की-सी कैफ़ीयत मिलती है, मगर वो मायूसी और पसपाई को क़रीब नहीं आने देते, बल्कि आली हौसलगी के साथ हालात के सामने सीनासिपर रहते हैं। 'हक़' गमे-ज़िन्दगी से घबराते हैं न बचते हैं, बल्कि ज़िन्दगी के लिए ज़िन्दगी से नवर्दआज़माई को लाज़िमी तसव्वुर करते हैं।'' (बहवाला 'फ़रियादे-नग़्मा)

मुशीर झंझानवी के जज़्बाते-हक़ मुलाहिज़ा फ़र्मायें— ''जनाब 'हक़' बनारसी एक पुरगो और ख़ुशगो शायर हैं। आपका कलाम ख़ासतौर से ग़ज़लों पर मुश्तमिल है। एक ग़ज़लगो शायर की हैसियत से आप ग़ज़ल की तमाम रिवायात और नज़ाकतों का मुकम्मल एहतराम करते हैं। आपका तर्ज़े-बयान और अन्दाज़े-फ़िक्र, दोनों ही क्लासिकल या रिवायती ग़ज़ल के क़रीब हैं। हक़गोई 'हक़' साहब का हक़ है और अदब में वहीं शायर ज़िन्दा भी रह सकता है जिसमें सदाक़त के साथ साथ नज़ाकते-ख़याल और शिद्दते-एहसास भी कारफ़र्मा हो। 'हक़' साहब के कलाम में ऐसे अश्आर की कमी नहीं। वो तो जो कुछ कहते हैं दिल की गहराइयों और दिमाग़ की रंगआमेज़ियों का सहारा लेकर कहते हैं। इस तरह उनके कलाम में दिल्ली स्कूल की सादगी और लखनऊ स्कूल की पुरकारी का हसीन इम्तियाज़ मिलता है।'' (बहवाला 'फ़रियादे-नग़मा')

ख़ुमार बाराबंकवी 'हक़' की शख़्सीयत और हक़ीक़ी शायरी से किस क़दर मख़्मूर नज़र आते हैं। उनके विचार मुलाहिज़ा फ़र्मायें— ''जनाब 'हक़' बनारसी मेरे मह्बूब शायर है। वो जितने अच्छे शायर हैं उतने ही अच्छे इंसान भी हैं। वो जो कुछ मह्सूस करते हैं ख़ुलूस और सच्चाई के साथ नज़्म कर देते हैं। यही वज्ह है कि उनके शेर नश्तर का काम करते हैं। उनकी शायरी आपबीती होती है। जिसे वो अपनी फ़नकाराना चाबुकदस्तियों से जगबीती बना देते हैं।'' (बहवाला 'फ़रियादे-नग़्मा')

'अच्छे फ़नकार' के उन्वान से 'नज़ीर' बनारसी के ख़यालात मुलाहिज़ा फर्मायें— ''आपका शुमार सफ़े-अव्वल के शोअरा में होता है। मैं अपनी तह्रीर में रस्मी अल्फ़ाज़ और तसन्नो से गुरेज़ करता हूँ। ये हक़ीक़त है कि आप सही मायनों में एक अच्छे फ़नकार हैं। आपका कलाम आपकी ज़िन्दगी का आईनादार है। आपकी फ़नकाराना सलाहीयत, शौकते-अल्फ़ाज़, शराफ़ते-ख़याल; सब क़ाबिले-सताइश और लायक़े-तह्सीन हैं। आप फ़न्ने-शरीफ़ की पाबन्दी करते हुए जिस आज़ादी के साथ नोक-पलक सँवारते हैं, जज़्बात पर क़ाबू रखते हुए फ़न्नी रखरखाव के साथ जिस तरह शेर कहते हैं, आज के दौर में उसकी मिसाल कम मिलती है।'' (बहवाला 'फ़रियादे-नग़्मा')

''जनाब 'हक़' बनारसी और ग़ज़ल की तहदारी', ये सुर्ख़ी है डॉ. बशीर बद्र के जज़्बाते-दिल की। मज़्मून मुलाहिज़ा फ़र्मायें— '' 'हक़' साहब की ग़ज़ल के ख़ूबसूरत अश्आर इज़्हार की सादगी, सफ़ाई और दिलकशी के पर्दे में फ़र्द और अस्र की तहदार कश्मकश और उससे पैदा होनेवाले दाख़िली कर्ब, जद्दोजहद, मर्दाना तअस्सुफ़, मुहज़्ज़ब तंज़ का इज़्हार है। वो साहिबे-दिल हैं और ऐसे साहिबे-दिल हैं जो ये मह्सूस करता है कि पत्थर से निकलनेवाली आग भी इसका सुबूत है कि दुनिया में कुछ भी जामिद और बेहिस नहीं। वो दिले-गुदाज़ के मालिक हैं, लेकिन अपनी आग में इस तरह नहीं पिघल जाते हैं कि अक़्ली तज्ज़िया न कर सकें और एक इंसानी रवैया उन्हें ख़ुदतरहुमी की मायूसाना फ़रियाद से बचा लेता है, ख़्वाह उसमें मुहब्बत की नाकामी की वज्ह हो, जहाँ बेशुमार रक़ीब हैं या दुनिया में नाकामी का मुआमला हो कि ये दुनिया तो रसूलों से भी बरगश्ता रही है। (बहवाला 'फ़रियादे-नग़्मा)

हश्मत सुहेल(एडवोकेट) कानपुर, का क़लम कुछ यूँ बोलता है— ''जनाब 'हक़' बनारसी को अपनी क़दीम रिवायात और इक़्दार पर बड़ा नाज़ है, लेकिन वो जदीद लबो-लह्जे से भी नाआश्ना नहीं हैं। उन्होंने क़दीम अन्दाज़े-बयाँ में जदीद लह्जे को पैबन्दकारी से एक ऐसे मुत्वाज़िन लह्जे को जन्म दिया है जो उनके नामो-कलाम के साथ मख़्सूस समझा जायेगा।''(बहवाला 'फ़रियादे-नग़्मा')

मस्त हफ़ीज़ रहमानी; मासिक पत्रिका 'शुआए-अदब' सीतापुर जज़्बात मुलाहिज़ा फर्मायें— ''जनाब 'हक़' बनारसी की शायरी एक दुखे हुए दिल की आवाज़ है, जिसमें मआशरे के जब्र और फ़र्द की मज्बूरी का नुमाया तौर पर ज़िक्र किया गया है। उनके नग़्में ने फ़रियाद की लय ज़रूर अख़्तियार कर ली है, मगर वो मायूसी और बुज़दिली का शिकार नहीं होते, बल्कि वो तो इसके बरअक्स एक सिपाही की तरह हालात से नवर्दआज़मा और मर्दे-मुजाहिद की सूरत बरसरे-पैकार नज़र आते हैं।(बहवाला 'फ़रियादे-नग़्मा)

ऐसी मोतबर शख़्सीयात जिन्होंने 'हक़' बनारसी की हक़गोई और फ़नकारी का एतराफ़ किया है और उनकी सलाहियत को बसद फ़ख़्र तस्लीम किया है, के हवाले पेश करने के बाद ऐसा मह्सूस होता है कि मुझे 'हक़' साहब की ज़िन्दादिल शायरी का तआरुफ़ कराने में और उनकी अज़्मत का लोहा मनवाने में कोई मुश्किल दरपेश नहीं हो सकती। ऊपर उल्लिखित हवाले मेरे ख़यालात को तस्दीक़ करने के लिए मुकम्मल सनद से कम नहीं।

वादी-ए-ग़ुर्बत का ये मुसाफ़िर जब अपने आबाई वतन बनारस को ख़ैरबाद कहकर कानपुर की अदबी सरज़मीन पर ख़ेमाज़न था, जिसकी बेबाक, ख़ुद्दार और बेलाग़ शायरी ने कानपुर में हलचल मचा रखी थी। ऐसे पुरवक़ार, अदब के अलमबरदार पर जब रईस-ए-कानपुर हज़रत महमूद हलीम, हज़रत शाहिद हलीम की मुहब्बत की निगाहें पड़ी तो वो अक़ीदत की निगाहें बन गयीं और इन्हीं जज़्बात की सरशारी ने इन हज़रात को, जिनके

साथ 'फ़ना' निज़ामी और जिगर एकेडमी के अराकीन की हिमायत हासिल रही, 1970 ई. में कानपुर की सरज़मीन पर 'जश्ने-शोअरा' का आग़ाज़ 'जश्ने-हक़ बनारसी' से किया। ये जश्न या जिसे 'जश्ने-हक़' कहा जाये, 'हक़' बनारसी के शायराना तशख़्ख़ुस, उनकी हकीमाना फ़िक्रो-नज़र के इज़्हार का एक बेह्तरीन ज़रिआ था। मेरा मतलब है कि इस हीरे पर जब शाहो-जौहरी दोनों की निगाहें पड़ीं तो इसकी चमक दोबाला हो गयी। फिर क्या था 'हक़' की आवाज सदा-ए-हक़ बनकर कानपुर की सरज़मीन से उठी और पूरे हिन्दोस्तान में इस तरह फैली कि हर साहिबे-दिल मस्त-ओ-बेख़ुद नज़र आने लगा। सच्ची बात दिलों पर इसी तरह असरअन्दाज़ हुआ ही करती है और अगर इस बात को ख़ूबसूरत शेरी लिबास से मुज़य्यन कर दिया जाये तो क्या कहना।

अब आइए लुत्फ़अन्दोज़ होते हैं हक़ साहब की शेरी कारीगरी से; फ़र्माते हैं—

कौन उस दर पे लिये दाग़े-तमन्ना जाये
हम न जायेंगे कभी, जाती है दुनिया जाये
दोस्तो! और चराग़ों की लवें तेज़ करो
तीराबख़्तों की गली तक तो उजाला जाये
शर्म-सी आती है इज़्हारे-तमन्ना करते
वो भी सोचेंगे कि किस-किस को नवाज़ा जाये
चोट पड़ती है तो पत्थर से निकल आती है आग
हम तो हैं साहिबे-दिल हम को न छेड़ा जाये
जिस कसौटी पे हमें आप परखते हैं जनाब
क्या नतीजा हो अगर आपको परखा जाये
आज 'हक़' जाम-ब-लब है बतक़ाज़ाए-बहार
फेर ले अपनी नज़र जिससे न देखा जाये

वादी-ए-ग़ुर्बत में जब वतन की याद आती है तो यूँ नग़्मासरा होते हैं—

अब तो आँखों में पए-नज़्र इक आँसू भी नहीं
हाय! किस वक़्त मुझे यादे-वतन आयी है

बड़ी जाँफ़िशानी के बाद जब उन्हें मंज़िल मिल जाती है तो किस अन्दाज़ में अल्लाह का शुक्र अदा करते हैं—

रह गया हमसफ़रो! हिम्मते-आली का भरम
शुक्र की जा है कि मंज़िल पे थकन आयी है

ग़म की अँधेरी रात में जब सुब्ह का नूर नज़र आता है तो किस दर्द के साथ पुकार उठते हैं—

मेरी क़िस्मत में कहाँ थे ये सहर के जल्वे
रास्ता भूल के सूरज की किरन आयी है

एक बार फिर वतन याद आने पर इतनी ख़ुशी महसूस करते हैं कि गुहरहाए-मुहब्बत(मुहब्बत के मोती) लुटाने लगते हैं, कहते हैं—

क्यों गुहरहा-ए-मुहब्बत न लुटाऊँ ऐ 'हक़'
यादे-फ़िर्दौस नहीं, यादे-वतन आयी है

'हक़' साहब की ज़िन्दगी बड़े नसेबो-फ़राज़ से गुज़री। अपनों की सितमगरी और फ़ित्नापरवरी का उन्हें हर वक़्त सामना करना पड़ा। वो ग़ैरों का शिकवा नहीं करते और न उनकी फ़ित्नासामानी का तज़्किरा करते हैं, बल्कि अपने ही तीर से ज़ख़्मी अपने जिगर की वारदात को किस हसीन पैराये में बयान करते हैं। मुलाहिज़ा फर्मायें—

शिकवे नहीं सूरज की हरारत असरी के
झुलसाये हुए हम हैं नसीमे-सहरी के

ज़िन्दगी कितनी बेवफ़ा है, इस मौज़ू पर बहुत-से शायरों ने क़लम उठाया है, लेकिन 'हक़' साहब कितनी सफ़ाई और सादगी के साथ इस मज़्मून को क़लमबन्द करते हैं—

कितना ही कोई प्यार करे ज़िन्दगी के साथ
ये ज़िन्दगी वफ़ा न करेगी किसी के साथ

कुछ अश्आर और पेश करता हूँ जिससे 'हक़' साहब की ज़िन्दगी के हालात का अन्दाज़ा होगा। उन्होंने ज़िन्दगी की नाहमवारियों को किस अन्दाज़ में हमवार करने की कोशिश की है और इस मुश्किल काम को अंजाम देने में उन्होंने किस क़दर कामयाबी हासिल की है, इसका अन्दाज़ा अहले-नज़र कर सकते हैं—

ज़माना आश्ना हो जायेगा राज़े-मुहब्बत से
न इतना भी करो पर्दा कि पर्दा चाक हो जाये
मुसल्सल बिजलियाँ मँडला रही हैं सह्ने-गुलशन पर
नशेमन ख़ाक हो जाये तो क़िस्सा पाक हो जाये

हर एक सम्त था मेरे ही दोस्तों का हुजूम
मैं क्या बताऊँ कि तीरे-सितम किधर से चला
वो अब्र जिसके लिए मुद्दतें दुआएँ कीं
ये क्या सितम है कि ज़ालिम बग़ैर बरसे चला

हम तो ग़ैरों को तबाही का सबब कहते हैं
आप शर्मिन्दा न हों आपको कब कहते हैं

इक नेमते-मख़्सूस है एहसास की दौलत

लेकिन यही दौलत मुझे बर्बाद करे
हैतासीरे-फ़ुगाँ तुमको मुबारक हो आसीरो!
बर्क़ आज तवाफ़े-दरे-सय्याद करे है

मुम्किन है यूँ ही जाग उठे ग़ैरते-पर्वाज़
हाँ और ज़रा तानए-बेबालो-परी दे
कौनेन भी क़ीमत नहीं टूटे हुए दिल की
ये जिंसे-गराँ तेरे सिवा कौन ख़रीदे

कौन उस डूबनेवाले को बचा सकता है
नाख़ुदा को जो पुकारे है ख़ुदा से पहले
यक-ब-यक प्यार का जज़्बा उभर आया कैसे
तुम तो बेजार थे हम अहले-वफ़ा से पहले
'हक़' रुलाये न तुम्हें भी सितमे-उम्रे-दराज़
काश मर जाता बुज़ुर्गों की दुआ से पहले

क्यूँ आप हिक़ारत से मुझे देख रहे हैं
रुस्वा-ए-ज़माना हूँ मगर आप से कम हूँ
दुनिया से अलग है मेरा अन्दाज़े-तबाही
बर्बादे-सितम सब हैं मैं बर्बादे-करम हूँ

सितम की हद से गुज़रकर तलाश करती है
कोई बला हो मेरा घर तलाश करती है
ख़ुदा के वास्ते शबनम की पेशकश न करो
हमारी प्यास समन्दर तलाश करती है

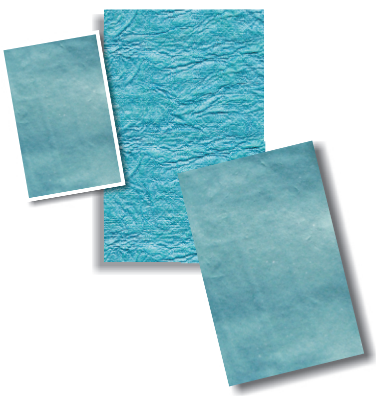
दरे-हरीफ़ से या बज़्मे-दोस्ताँ से मिले
समेट लो ग़मे-दौराँ जहाँ-जहाँ से मिले
उतर न जायें मेरे दोस्तों के चेहरे भी
न पूछिए कि मुझे ग़म कहाँ-कहाँ से मिले

हूँ तो मैं गौहरे-नायाब मगर ज़ुल्म ये है
उस जगह हूँ कि जहाँ चश्मे-ख़रीदार न जाय

इन अश्‌आर को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि ‘हक़’ साहब ने जो कुछ मह्सूस किया है उसे शेरी पैकर में इस तरह ढाला है कि हर अहले–दिल उछल–उछल जाये। अल्फ़ाज़ की बन्दिश, मज़्मूनआफ़्रीनी और अन्दाज़े–बयान इतना ज़बरदस्त कि बड़े–बड़े क़ादिरुल कलाम शोअरा दाँतों तले उँगली दबायें और मुझ जैसे तालिबे–इल्म की आँखें खुल जायें।

‘हक़’ साहब शायरी ‘सुनते हैं कि ग़ालिब का है अन्दाज़े–बयाँ और’ के मिस्दाक़ है। उनके मज्मूआ–ए–कलाम का एक शेर भी ऐसा नहीं जिसमें पैग़ाम न हो, बल्कि किसी शेर का कोई लफ़्ज़ ऐसा नहीं जो भर्ती का हो और अगर मैं ये कहूँ कि ‘हक़’ साहब की शायरी में आफ़ाक़ियत है तो कोई मुबाल्ग़ा न होगा। सच्ची शायरी वही है कि सुननेवाला या पढ़नेवाला कह दे कि ये तो मेरे दिल की आवाज़ है। ऐसी ही शायरी सदियों तक ज़िन्दा रखनेवाली शायरी होती है। ‘हक़’ साहब अब दुनिया में नहीं हैं, मगर उनके कलाम उनके शेरी आहंग से उनका नाम रोशन है और इंशाअल्लाह रहेगा। ‘हक़’ साहब की शायरी हिन्दोस्तान के अदबी ज़ख़ीरे में एक क़ीमती इज़ाफ़ा है जिसे शामिले–निसाब किया जाना चाहिए और उनकी शख़्सीयत और अदबी कारनामों पर तहक़ीक़ी मक़ाले लिखे जाने चाहिए। ये अदब के तहफ़्फ़ुज़ और उसकी बक़ा के लिए नेक क़दम होगा।

●●●



ग़ज़लकार

ज़ियाउर रहमान जाफ़री
हाईस्कूल विद्यालय, माफ़ी
वाया अस्थावाँ, नालन्दा-803107 (बिहार)
मोबाइल- 09934847941

बिहार के नालन्दा जिले में एक जगह है माफ़ी, ज़ियाउर रहमान इस वक़्त वहीं राज्य सरकार के एक अल्पसंख्यक विद्यालय में हिन्दी के अध्यापक हैं। इन्होंने 'हिन्दी-उर्दू ग़ज़लों के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन' विषयक शोधकार्य (पीएच. डी.) दरभंगा विश्वविद्यालय से किया। ख़ुद भी एक अच्छे शायर हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इनकी सैकड़ों ग़ज़लें और लेख प्रकाशित हो चुके हैं। 'खुले दरीचे की ख़ुश्बू' (2010) और 'ख़ुश्बू छूकर आयी है' (2012) इनकी ग़ज़लों के मज्मूअे हैं। इसके अलावा इनके द्वारा लिखित पाकिस्तान की शायरा परवीन शाकिर पर जल्द ही एक आलोचनात्मक किताब प्रकाशित होने वाली है। यहाँ इनका जो लेख पेश किया जा रहा है वो बशीर बद्र जैसे जाने-माने शायर की शायरी में मौजूद मुहब्बत के अनासिर को बयान करता है। बशीर बद्र अहदे-हाज़िर के महबूब शायर हैं।

ज़ियाउर रहमान जाफ़री

बशीर बद्र की शायरी मुहब्बत सिखाती है

ग़ज़ल के मुहब्बत से पैदाइशी रिश्ते हैं। ग़ज़ल का मतलब भी प्रेयसी से गुफ़्तगू है, लेकिन प्रेमिका से बात करना अत्यन्त सहज क्रिया नहीं है, इसके लिए बड़े साहस, धैर्य और तमीज़ की ज़रूरत पड़ती है। फिर ग़ज़ल वो प्रेयसी है, जिसे ढीली–ढाली पोशाक पसन्द नहीं है। वो हमेशा तंग लिबास पहनना पसन्द करती है। क़ाफ़िया, रदीफ़, मत्‌ला, मक़्ता, बह्‌र आदि इसके लिबास हैं और प्रेमी से वार्ता ग़ज़ल का लहजा है। जिन लोगों ने इसे समझा उनसे ग़ज़ल बनी, वर्ना बक़ौल कमलेश्वर ये बड़ा नाज़ुक सिन्फ़ है।

बशीर बद्र, निदा फ़ाज़ली, मुनव्वर राना और वसीम बरेलवी नयी उर्दू–ग़ज़ल के बड़े मश्‌हूर शायर हैं। बशीर बद्र तो मुहब्बतों के शायर कहे गये हैं। शायद ही मुहब्बत का कोई पहलू हो जो बशीर बद्र की शायरी में न हो। हर आशिक़–ओ–माशूक़ उनकी शायरी में जगह पाता है और उसे लगता है ये तो उसी की बात है। 'प्रेम' अपने में बड़ा व्यापक शब्द है, लेकिन कविताओं में, ग़ज़लों में जिस प्रेम की बात होती है वो प्रेमी–प्रेमिका के बीच होनेवाला रागात्मक सम्बन्ध है। काव्य में अंकित कल्पना–लोक की स्त्री न तो किसी की बहन, माँ, पत्नी या कुछ और होती है। शृंगारिक प्रवृत्तियों का सर्वप्रमुख आश्रय प्रेम होता है, जिसका वर्णन प्राय: प्रत्येक साहित्य में मौजूद है। हाँ, ग़ज़ल के नर्म सुख़न में ये अधिक पैवस्त हो गया है। उर्दू–ग़ज़ल की एक सबसे बड़ी विशेषता प्रेम की पाकीज़गी है। यहाँ जिंस और जिस्म पर्दे में हैं। स्त्री का स्पर्श रीतिकालीन कवियों को 'काम' पर आमादा कर देता है, लेकिन उर्दू–ग़ज़ल तब भी संयम बरतती है। देखिए बशीर बद्र का शेर—

टहनी गुलाब की मेरे सीने से आ लगी
झटके के साथ कार का रुकना ग़ज़ब हुआ

और ये भी कि—

नज़र से गुफ़्तगू, ख़ामोश लब तुम्हारी तरह
ग़ज़ल ने सीखे हैं अन्दाज़ सब तुम्हारी तरह

इसीलिए कहा गया है कि कम बोलना और अधिक कहना ग़ज़ल की विशेषता है। बशीर बद्र की शायरी बेहद नाज़ुक बिम्बों, प्रतीकों और अनुभूतियों की शायरी है। उनका कला पक्ष बड़ा ज़बरदस्त है। उन्होंने कहा भी है– ''शिल्प तो शायरी की पोशाक है। शिल्प के बग़ैर शायरी नंगी हो जायेगी।'' शब्द–चयन के प्रति जितनी सतर्कता उनकी ग़ज़लों में है वो इतर शायरों में न मिलेगी। चंद अश्आर देखिए–

मेरे छत की तरफ़ धूप की पीठ थी
आते–आते इधर चाँदनी हो गयी

अजब चराग़ हूँ दिन–रात जलता रहता हूँ
मैं थक गया हूँ हवा से कहो बुझाये मुझे

मैकदा रात ग़म का घर निकला
दिल हथेली तले खँडर निकला
मैं उसे ढूँढ़ता था आँखों पर
फूल बनकर वो शाख़ पर निकला

किसी ने कहा है प्रेम आदमी को बादशाह बना देता, लेकिन जुदाई उसे फ़क़ीर बना देती है। वो अपनी तक्लीफ़ किसी के सामने बयाँ कर भी नहीं सकता और मनोरथों को दबाये जीना कोई सरल कार्य नहीं होता। बशीर बद्र किसी मज्बूर आशिक़ की तरह अपनी व्यथा कहते हैं–

वो चाँदनी का बदन ख़ुश्बुओं का साया है
बहुत अज़ीज़ हमें है मगर पराया है

तब वो अपनी महबूबा से एक और मेह्रबानी करने को कहते हैं–

तुम मुझे छोड़ के जाओगे तो मर जाऊँगा
यूँ करो जाने से पहले मुझे पागल कर दो

ग़मे–फ़ुर्क़त में जल रहे आशिक़ के लिए सिवाय दुआ के दूसरा चारा ही क्या है–

दुआ करो कि ये पौधा सदा हरा ही रहे
उदासियों में भी चेह्रा खिला–खिला ही रहे

इसीलिए कवि विनम्रतापूर्वक आग्रह करता है–

दूसरों को हमारी सज़ाएँ न दे
चाँदनी रात को बद्दुआएँ न दे

ये भी अजीब बात है कि हम आपस में मुहब्बत करने की तालीम तो देते हैं और ख़ुद ही मुहब्बत के रास्ते पर दीवार बनकर खड़े हो जाते हैं। बशीर बद्र का ये क़ौल बड़ा ही मार्मिक है–

तलवार से काटा है फूलों भरी डालों को
दुनिया ने नहीं चाहा हम चाहनेवालों को

मुहब्बत करनेवाले कुछ ज़्यादा नहीं चाहते। देखें इसी ग़ज़ल का दूसरा शेर—

चिड़ियों के लिए चावल पौधों के लिए पानी
थोड़ी–सी मुहब्बत दे हम चाहनेवालों को

बशीर बद्र के कई शेर ऐसे हैं जिसमें वो प्रतीकों के माध्यम से बात करते हैं, लेकिन इन प्रतीकों में छायावादी वायवीयता नहीं है; ये बहुत सुलझे हुए संकेत हैं। यही कारण है कि उनकी प्रतीकात्मक शायरी भी कम लोकप्रिय नहीं है। देखें चन्द ऐसे शेर—

तुम्हारे शह्र के सारे दिये तो सो गये लेकिन
हवा से पूछना दहलीज़ पे ये कौन जलता है

किसने जलायी बस्तियाँ बाजार क्यूँ लुटे
मैं चाँद पर गया था मुझे कुछ पता नहीं

हज़ारों शेर मेरे सो गये काग़ज़ के कब्रों में
अजब माँ हूँ कोई बच्चा मेरा ज़िन्दा नहीं रहता

बशीर बद्र ऐसे शायर हैं जिन्होंने बेपनाह तक्लीफ़ों को अपने सीने में सँजोकर रखा है। वो गुनगुनाहट के सहारे भले बाहर आये, लेकिन उन्हें रोना पसन्द नहीं है—

ग़ज़लों का हुनर अपनी आँखों को सिखायेंगे
रोयेंगे बहुत लेकिन आँसू न बहायेंगे

उदास आँखों से आँसू नहीं निकलते हैं
ये मोतियों की तरह सीपियों में ढलते हैं

शब्द 'ख़ुश्बू' जैसे परवीन शाकिर की शायरी में बार–बार आता है। 'माँ' शब्द जैसे मुनव्वर राना की शायरी में अधिकतर प्रयुक्त हुआ है। ठीक वैसे ही आँख, आँसू, चाँद, फूल, ख़ुश्बू जैसे शब्द बशीर बद्र की शायरी में बराबर आते हैं। 'आँख' पर उन्होंने बहुत लिखा है। यही आँखें तो प्यार करती हैं, सपने बुनती हैं, संकेतों से बातें करती हैं। इसी आँख की नींद उड़ती है और वियोग के क्षण में इन्हीं आँखों से झिलमिल बरसात होती है। बशीर बद्र के चन्द ऐसे अश्आर मुलाहिज़ा हों—

तुम्हें ज़रूर कोई चाहतों से देखेगा
मगर वो आँख हमारी कहाँ से लायेगा

रेत भरी है इन आँखों में आँसू से तुम धो लेना
कोई सूखा पेड़ मिले तो उससे लिपटकर रो लेना

चराग़ों को आँखों में महफ़ूज रखना
बड़ी देर तक रात ही रात होगी

आँखों में रहा दिल में उतरकर नहीं देखा
कश्ती के मुसाफ़िर ने समन्दर नहीं देखा

बशीर बद्र की शायरी की सबसे बड़ी विशेषता उनका अन्दाज़े–बयाँ है। उन्होंने जो कुछ कहा सीधे–सादे ढंग से कहा, लेकिन उसमें जो गहराई है उसको नापना मुश्किल है। यही कारण है कि उनकी शैली में बनावटी बाँकपन अथवा अत्युक्ति का भद्दापन नहीं दिखायी देता। बशीर बद्र को अपनी भाषा पर भी पूरी गिरफ़्त है। शब्द उन्हें जो प्यारे लगे उन्होंने ले लिया। वो चाहे जिस भाषा का हो; जैसे माली कई फूलों को चुनकर हार बना लेता है। इसीलिए जितना लोच, जितनी गेयता, जितना प्रवाह बशीर बद्र की शायरी में हैं वो कहीं और नहीं है। उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा भी था— ग़ज़ल की शायरी एक फाख़्ता की तरह है। यदि उसके परों में लफ़्ज़ों के भारी पत्थर बाँध दें तो वो गिर जायेगी और उड़ नहीं सकेगी। बशीर बद्र की भाषा हिन्दुस्तानी है। उनका शेर दिल के अन्दर जगह बना लेता है। संवेदना तो उनकी शायरी की जान है। देखिए एक शेर—

सर से चादर, बदन से क़बा ले गयी
ज़िन्दगी हम फ़क़ीरों से क्या ले गयी

बशीर बद्र अपनी तरह के अकेले शायर हैं। उनकी शायरी में प्रेम, मुहब्बत, वफ़ा, बेवफ़ाई, शराब, शबाब सबकुछ है, लेकिन मीरा, ताज और परवीन शाकिर की तरह ये उनका भोगा हुआ यथार्थ नहीं है। बक़ौल निदा फ़ाज़ली— ''बशीर बद्र न शराब पीते हैं न सिगरेट से अपनी तन्हाई बहलाते हैं।''

बशीर बद्र ने किसी लड़की से मुहब्बत नहीं की, जो जीवन–संगिनी हुई उसी को अपना दोस्त बना लिया। पाकिस्तानी शायरा परवीन शाकिर की ख़ूबसूरती का वो ज़रूर बखान करते थे। अपनी डायरी का एक वरक उन्होंने उनके हवाले कर दिया था। अमेरिका के एक मुशायरे के बाबत, जिसमें परवीन भी शामिल थीं, वो लिखते हैं— ''इस मुशायरे के बाद मेरी परवीन से मुलाक़ात नहीं हो सकी, लेकिन ये झूठ है वो अभी यहीं थी। मेरी तहरीर इसलिए बेरब्त हुई कि वो काग़ज़ छीन लेती थी— तुम मेरी झूठी तारीफ़ करते हो— वो आज भी यही झूठ बोलती है। मुझे लिखने नहीं दे रही इसलिए मैं अपनी डायरी का एक वरक हमेशा–हमेशा के लिए आपके हवाले कर रहा हूँ।''

बशीर बद्र मुशायरे के मश्हूर शायर हैं। उनका मुशायरे में पहुँचना मुशायरे के सफल होने की गारण्टी है। वो फ़िराक़ गोरखपुरी के शिष्य हैं, इसीलिए फ़िराक़ की तरह आत्मप्रशंसा भी ख़ूब करते हैं। मुशायरों में फ़िराक़ की मौजूदगी में किसी शायर को अधिक दाद पड़ जाती तो फ़िराक़ अजब तरह की कैफ़ियत करते थे। बशीर बद्र को मैंने सुना है, वो

ऐसा नहीं करते। हाँ, शेर पढ़ते हुए उसकी व्याख्या भी करते जाते हैं। यही बात पाकिस्तानी शायर स्वर्गीय अहमद फ़राज़ को नागवार लगी थी और उन्होंने कहा था— भारत के शायर शेर नहीं सुनाते, सुननेवालों से प्रशंसा की भीख माँगते हैं। बशीर बद्र को अपनी तारीफ़ पसन्द है कभी-कभी ये ख़ुद्दारी तक पहुँच जाती है। 'आमद' की भूमिका में उन्होंने सबसे अधिक लोकप्रिय शायरों में ख़ुद की गिनती की है। उनका एक शेर भी है—

इक मीर था जो आज भी काग़ज़ में क़ैद है
हिन्दी ग़ज़ल का दूसरा अवतार मैं ही हूँ

इसमें कोई शक भी नहीं है कि वो वर्तमान समय के बड़े शायर नहीं हैं। आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है आज दुनिया में ग़ज़ल के सबसे मश्हूर शायर बशीर बद्र हैं।

बशीर बद्र एक ख़ेमे का नाम भी है और ग़ज़ल की ख़ूबसूरती का भी, तभी तो उनके ख़ेमे के लोग इस युग को 'बशीर युग' कहते हैं। उनके अन्दर कई शायरों का मिस्रा बोलता है। यहाँ मीर की दिल पर असर करनेवाली कशिश है तो ग़ालिब जैसी फिलॉसफी भी। आज जिसे हम जदीद शायरी कहते हैं उसमें नये शब्द तो लाये गये, लेकिन उन शब्दों में जान बशीर बद्र ने ही पैदा की। उनकी शोह्रत की बुलन्दी जब आलोचकों से न देखी गयी तो उन पर आरोपों की बारिश भी हुई। तमाम आरोपों में एक आरोप उनकी शायरी की अश्लीलता को लेकर भी था। ये अजीब बात है। एक तो न ग़ज़ल का मिज़ाज घोर श्रृंगारिक है और दूसरे न बशीर बद्र के विचार इस कोटि के हैं। उनका एक शेर है—

मेरी निगाह मुख़ातिब से बात करते हुए
तमाम जिस्म के कपड़े उतार लेती है

इसमें लोगों को वासना की गंध आती है, जबकि ये शेर वासना पर बिल्कुल नहीं है। इसमें ये बताया गया है कि आप कोई-सा भी चोला पहन लें, शायर अपनी नज़र और अपने दिमाग़ से, उस चोले में क्या है, पहचान लेता है। बशीर बद्र की शायरी हिन्दुस्तान की आत्मा की आवाज़ है। ये शायरी हमेशा नये प्रयोगों से गुज़रती हुई नये सन्दर्भों की तलाश करती है। वो पहले शायर हैं जिन्होंने लड़कियों को बेटी कहकर पुकारा। दहेज के वीभत्स रूप पर हर शायर ने लिखा है, लेकिन जब बशीर बद्र लिखते हैं तो ये पत्थर-दिल पर भी असर करता है—

किसी ख़ज़ाने में कल मैंने बेच दी थी आँखें
दहेज़ लाना ज़रूरी था बेटियों के लिए

बशीर बद्र के कई ग़ज़ल संकलन हैं। 'इकाई'(1969) उनका प्रथम ग़ज़ल-संग्रह है। 'इमेज'(1973) और 'आमद'(1985) उनके दो और मश्हूर ग़ज़लों का मज्मूआ है। बशीर बद्र की सारी ग़ज़लें कुल्लियाते-बशीर बद्र के नाम से भी मौजूद हैं। 'इकाई' ग़ज़ल-संग्रह से ही बशीर बद्र ग़ज़ल की दुनिया में

छा गये। संकलन के कई शेर और ग़ज़लें लोगों की ज़बान पर आ गयीं। ख़ास तौर से ये शेर—

उजाले अपनी यादों के हमारे साथ रहने दो
न जाने किस गली में ज़िन्दगी की शाम हो जाये

तो दुनिया का सबसे मश्हूर शेर बन गया। चाँद को देखते ही अपनी प्रेयसी को याद करना, मीर और नज़ीर के यहाँ भी मिलता है, लेकिन चाँद का मुहब्बत भरी ख़बर देना सिर्फ़ बशीर बद्र के यहाँ है—

चाँद ने रात मुझको जगाकर कहा
एक लड़की तुम्हारा पता ले गयी

चाँद को सोकर उठते हुए भी सिर्फ़ बशीर बद्र ने देखा है—

ख़्वाब की वादियों से निकलता हुआ
चाँद सो कर उठा आँख मलता हुआ

बशीर बद्र मुहब्बत के शायर हैं, लेकिन वो समाज से अलग होकर नहीं रहते; चाहे वो राजनीति की त्रासदी हो, स्खलित होते हुए मानवीय मूल्य हों, भौतिकता का प्रसार हो, साम्प्रदायिकता का ताण्डव हो चाहे सर्वहारा वर्ग की जद्दोजहद हो, बशीर की क़लम ख़ामोश नहीं रह पाती। उनमें सामयिकता मौजूद है। जो प्रेम है उसकी भी भाषा, वर्ण्य विषय, दृश्य, प्रतीक, बिम्ब और उपमाएँ पुरानी नहीं हैं, बल्कि परिष्कृत और पालिश किये हुए हैं। 'सितारों से पलकों का बात करना' और 'हवा का ठहरकर देखना' बिल्कुल नया प्रयोग है—

सितारों ने पलकों से क्या बात की
सवारी गुजरने लगी रात की
मैं चुप था तो चलती हवा रुक गयी
ज़बाँ सब समझते हैं जज़्बात की

इंसान मुहब्बत के लिए पैदा हुआ है और मुहब्बत के कुछ तक़ाज़े भी हैं—

ख़ुदा हमको ऐसी ख़ुदाई न दे
कि अपने सिवा कुछ दिखाई न दे

फिर ये भी हिदायत कि—

अब तेरे-मेरे बीच ज़रा फ़ासला भी हो
हम लोग जब मिलें तो कोई दूसरा भी हो

शायद 'साहिर' ने कहा था कि जंग क्या मस्अलों का हल देगी। बशीर बद्र भी मानते हैं कि जंग से कभी फ़ैसला नहीं हुआ—

दुश्मनी का सफ़र इक क़दम दो क़दम
तुम भी थक जाओगे हम भी थक जायेंगे

इस तरह साथ निभना है दुश्वार-सा
तू भी तलवार-सा मैं भी तलवार-सा

अगर शिकायत भी हो तो उनका लहजा तल्ख़ियोंवाला नहीं रहता बल्कि नर्म–सुख़न बनकर फूटता है—

सौ ख़ुलूस बातों में सब करम ख़यालों में
बस ज़रा वफ़ा कम है तेरे शह्‌रवालों में

बच्चे हिन्दुस्तानी उपवन के खिलते हुए फूल हैं। बच्चों का हँसना, मुस्काना और उनकी बेफ़िक्री डॉ. बशीर बद्र को भी पसन्द है—

उड़ने दो परिन्दों को अभी शोख़ हवा में
फिर लौट के बचपन के ज़माने नहीं आते

रेत पर खेलते बच्चों को अभी क्या मालूम
कोई सैलाब घरौंदा नहीं रहने देता

अपनी साहित्य–साधना के लिए बशीर बद्र को कई सम्मानों–इनामों से नवाज़ा गया, जिनमें साहित्य अकादमी अवार्ड, पद्‌मश्री, आल इण्डिया मीर तकी 'मीर' अवार्ड, बिहार उर्दू अकादमी तथा उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी के पुरस्कार क़ाबिले–ज़िक्र हैं। वे अति प्रतिष्ठित साहित्य अकादमी दिल्ली और उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी के सदस्य भी रहे। लम्बे वक़्त तक मेरठ कालेज के उर्दू–विभाग में अपनी सेवाएँ दी। सचमुच साठोत्तरी उर्दू–शायरी में बशीर बद्र की ग़ज़ल को आबरू–ए–ग़ज़ल कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी। वो निःसन्देह अपने मुल्क के महान् ग़ज़लगो हैं। विदेशों में भी उनके आमद को उत्सव की तरह मनाया जाता है।

हसीब सोज़
इमामबाड़ा, अलापुर
बदायूँ- 243631 (उ.प्र.)
मोबाइल : 09720735172

हसीब सोज़ शायरी के लिए 'फुलटाइम' समर्पित व्यक्तित्व हैं। किताबों, पत्र-पत्रिकाओं तथा अन्य प्रकार के प्रकाशनों से मुसल्सल जुड़े हैं। विभिन्न जगहों पर आपकी ग़ज़लें और आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होते रहते हैं। सन् 1982 से एक उच्च स्तरीय उर्दू-पत्रिका 'लम्हे-लम्हे' का अद्यतन सम्पादन कार्य कर रहे हैं। इसके अलावा सन् 2008 में 'बरसों बाद' और सन् 2012 में 'नीम के पत्ते' नाम से ग़ज़लों के संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं।

वसीम बरेलवी पर उनका ये मज़्मून वसीम साहब की शायरी में चराग़ की अलामत(प्रतीक) पर कुछ अनछुए बिन्दुओं को पेश करता है। आज उर्दू-शायरी में अलामतों का इस्तेमाल बहुत कम होता जा रहा है। सम्प्रेषणीयता बढ़ाने के लिए बात को सीधे-सीधे कह देने की प्रवृत्ति ने ग़ज़ल की कलात्मकताा को प्रभावित किया है। ऐसे में वसीम साहब की तरह गिने-चुने शायर हैं जो ग़ज़ल के हुस्न और वक़ार को बचाये हुए हैं।

हसीब सोज़

वसीम बरेलवी की शायरी में चराग़ का ज़िक्र

शायरी क्या है? इस मुख़्तसर सवाल के जवाबात की एक लम्बी फ़ेह्‌रिस्त है और बेशुमार मज़ामीन और किताबें लिखी जा चुकी हैं, मगर इत्तिफ़ाक़े-राय न होना एक ऐसा अलमिया है, जिस पर इज़्हारे-अफ़्सोस बिल्कुल इस तरह है कि जैसे कोई ग़रीब बेसरो-सामानी की ज़िन्दगी जीने के लिए मज्बूर हो।

शायरी समझने के लिए ज़ाविये अलग हो सकते हैं, जिसको समझनेवाले के ज़ाती तज्रबों से सम्बन्धित माना जा सकता है। अब देखना ये होता है कि अरस्तू ने शायरी को क्या समझा और शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी का ज़ाविया क्या है? अगर यूँ कहा जाय कि अरस्तू से फ़ारूक़ी तक, दरमियान में शायरी समझने के क्या पैमाने रहे तो बात साफ़ हो जाती है कि शेर को समझना एक ज़ाती ज़ाविया है, जिसमें कोशिश की जाती है कि एक गिरोह को अपना हमनवा बनाया जाय और ये मुम्किन भी है कि अपने अन्दाज़े-बयान और ज़ोरे-ज़ुबान से अपना हमख़याल कर लिया जाये। मगर ये ज़रूरी नहीं कि हमख़याल गिरोह हमेशा हमख़याल रहे। बस यहीं से गिरोह दर गिरोह की वाक़िआती कश्मकश का आग़ाज़ होता है और कभी शायरी का नाम क्लासिकी अदब से जोड़ा जाता है, कभी तरक़्क़ीपसन्द और कभी जदीद अदब या माबाअद जदीदीयत या फिर तामीरी अदब के घोड़े सरपट दौड़ने लगते हैं। क्या शायरी है क्या नहीं, ये समझनेवाले अलग हो जाते हैं और तथाकथित आलोचक अपने घोड़ों के गले में अपने-अपने अदब की नापाबदार तख़्तियाँ लटकाकर मैदाने-अदब में छोड़ देते हैं। जिसका घोड़ा तेज़ रफ़्तार होता है वो थोड़ी देर के लिए बाज़ी जीत जाता है; मगर वो बेचारा जिसका नाम कारी(पाठक) रखकर नौ ब्याहता दुल्हन की तरह कोने में बिठा दिया जाता है, जो न तो बोल सकता है और न इस बेइंसाफ़ी पर आँसू बहा सकता है। दरअस्ल मेरी नज़र में शायरी का पैमाना या मेयार यही कारी है, जिसकी पसन्द और नापसन्द को पसे-पुश्त डालकर(पीछे करके) आलोचकों के सरपट घोड़ों की दौड़ पर बाज़ी लगाना आज के चन्द अदीबों का शौक़े-ख़ास बन गया है।

बज़ाते-ख़ुद एक कारी की हैसियत से मैं तो शायरी को दो हिस्सों में तक़्सीम करता

हूँ। अव्वल ये कि सच्ची शायरी, दोयम ये कि झूठी शायरी। सच्ची शायरी के मानी ये हैं कि शेर में जो बात कही गयी है उसमें माहौल की कड़वी सदाक़त हो और बिला इम्तियाज़ कान सुनें और दिल महसूस करे। झूठी शायरी का मतलब है कि बेबुनियाद बात को सजा-सँवारकर इतना ख़ूबसूरत बना दिया जाये कि धोखे का तनिक भी एहसास तक न हो और वक़्ती तौर पर श्रोता या पाठक क़ुबूल भी कर ले। अगर सच्चे ज़ाविये को मद्दे-नज़र रखा जाये तो क्लासिकी अदब से लेकर जदीदतरीन अदब तक की शायरी की एक ही तारीफ़ रही है कि जो तुमने कहा वो हमने महसूस किया।

वसीम बरेलवी की शायरी भी ज़ाती तज्रबों की आईनादार होने के साथ-साथ इन्तिहाई नाज़ुक और लतीफ़ एहसासात का संगम है। जहाँ लफ़्ज़ों की ख़ूबसूरती के अलावा एहसास का कर्ब भी है जो शेर की परख में ज़ावियों की फ़न्नी पहचान छोड़ता है। प्रोफ़ेसर साहब की शायरी सुनी भी जाती है और पढ़ी भी जाती है, लेकिन एहसास की शिद्दत आँख मिचौली नहीं करती। कान से दिल तक का सफ़र करती हुई ये शायरी मौजूदा ज़माने की फ़िक्र ही नहीं पेश करती, बल्कि गुज़रे ज़माने की ख़ामोश फ़िज़ाओं का भी एहसास कराती है। इनकी पहली शेरी किताब से लेकर आठवीं शेरी किताब तक की शायरी ज़िन्दगी की बेशुमार तस्वीरों को उजागर करती है। वसीम साहब की शायरी का शायद सबसे बड़ा कमाल ये है कि उनकी शायरी श्रोता या पाठक पर हमेशा अपना असर रखती है, जिसे आसानी के साथ छोड़ा या भुलाया नहीं जा सकता। मस्लन—

आँखों-आँखों रहे और कोई घर न हो
ख़्वाब जैसा किसी का मुक़द्दर न हो

वसीम वरेलवी की शायरी को पढ़ने के बाद हम ये कह सकते हैं कि लफ़्ज़े-चराग़ को कलीदी(बहुतायत) तौर पर इस्तेमाल किया गया है। इन्होंने ख़ुद भी अपनी शायरी के इस एहसास का यूँ इज़्हार किया है— ''ज़िन्दगी की हमाजहती से आँखें चार करने में दिये की लौ की तरह हवाओं से लड़ना मेरा मुक़द्दर ज़रूर रहा, मगर कहीं कोई एहतिजाजी ताक़त थी जो सँभाले रही और बिखरने से बचाये रही।''

जी हाँ, प्रोफ़ेसर वसीम वरेलवी बिला शुबहा चराग़ों के शायर हैं। उन्होंने कभी चराग़ जलाकर ज़िन्दगी को देखा है और कभी चराग़ बुझाकर हक़ीक़त तलाश की है। प्रोफ़ेसर साहब की शायरी में ऐसे बहुत-से अश्आर मौजूद हैं जो चराग़ों के हवाले से ज़िन्दगी की तर्जुमानी करते नज़र आते हैं। मिसाल के तौर पर चन्द अश्आर मुलाहिज़ा कीजिए—

जहाँ रहेगा वहीं रोशनी लुटायेगा
किसी चराग़ का अपना मकाँ नहीं होता

नये दौर के चराग़ो! तुम्हें कितनी हसरतों से
वो मकान तक रहे हैं जहाँ रोशनी न पहुँची

बुझा तो जायेगी इस घर की रोशनी लेकिन
हवा चराग़ के आगे ठहर नहीं सकती

वसीम अपने अँधेरों का ख़ुद इलाज करो
कोई चराग़ जलाने इधर न आयेगा

या तेज़ आधियों पे मुझे इख़्तियार दे
या वो चराग़ दे जिसे बुझने का डर न हो

मैं बुझ गया तो हमेशा को बुझ ही जाउँगा
कोई चराग़ नहीं हूँ कि फिर जला लेगा

जला के रख लिया हाथों के साथ दामन तक
तुम्हें चराग़ बुझाना भी तो नहीं आया

यही चराग़ तेरी तीरगी का साथी था
जिसे तू सुब्ह की ख़ातिर बुझाये देता है

मैं उसको भूल गया हूँ ये कौन मानेगा
किसी चराग़ के बस में धुआँ नहीं होता

वसीम वरेलवी अपने युग की वो सच्ची आवाज़ हैं जिसकी बाज़गश्त सदियों तक सुनायी देगी। शायद हमारी शायरी को ऐसी ही सच्ची आवाज़ों की ज़रूरत है जिनकी लहरों पर कोई नारा न लिखा हो सिर्फ़ शायरी हो सच्ची शायरी, प्रो. वसीम बरेलवी की तरह।

ख़ुशनूदा नीलोफ़र
इग्नू (IGNOU) रीजनल सेंटर,
मैरिस रोड, अलीगढ़ (उ. प्र.)
मोबाइल : 08439951641

ख़ुशनूदा नीलोफ़र से मेरा परिचय तब हुआ था, जब सन् 2003-2004 में अपने प्रथम प्रयास में ही वो उर्दू से जे. आर. एफ. के लिए क्वालीफाई हुई थीं और अपने शोध-विषय को लेकर काफ़ी पसोपेश में थीं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम. ए. थीं, मगर जे. आर. एफ. के बाद शोध की बात आयी तो उर्दू-विभाग की नाहमवारियों से तंग आकर इन्होंने जे. एन. यू. का रास्ता पकड़ा। वहाँ से एम. फिल. किया और उर्दू के जाने-माने कथाकार और आलोचक क़मर रईस पर पीएच.डी. भी किया। सम्प्रति इग्नू में असिस्टेण्ट डाइरेक्टर हैं। उर्दू की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इनके विभिन्न विषयों पर शोध-पत्र, लेख इत्यादि प्रकाशित होते रहते हैं। उर्दू के कथा-साहित्य की आलोचना में इनकी विशेष रुचि और गति है।

ख़ुशनूदा नीलोफ़र

उर्दू-ग़ज़ल का मुख़्तसर तआरुफ़

उर्दू-ग़ज़ल की कई सौ साल की तारीख़ इस हक़ीक़त का स्पष्ट सुबूत है कि ये उर्दू की सबसे ज़ियादा जानदार, तवाना, हमागीर और हरदिल अज़ीज़ सिन्फ़े-सुख़न है। हर ज़माने में शायरों ने इस सिन्फ़े-सुख़न में तब्अआज़माई की है। ग़ज़ल के लग़्वी मानी महबूब से इल्तिफ़ात की बातें करना है। इस तरह इश्क़ो-मुहब्बत के मौज़ूआत से ग़ज़ल की ख़मीर तैयार की गयी है। एक रवायत ये भी है कि जब जंगल में शिकारी कुत्ते हिरन को घेरने की कोशिश करते हैं और हिरन भागते-भागते थक जाता है और आख़िरकार गिर पड़ता और शिकारी कुत्ते उसकी टाँगों पर हमला कर देते हैं। इस आलमे-इज़्तिराब में हिरन के मुँह से 'गुज़-गुज़-गुज़' की एक कमज़ोर-सी आवाज़ निकलती है। जो बेक़रारी उस आवाज़ में पायी जाती है वही ग़ज़ल की रूह में भी मिलती है। ग़ज़ल में उस आवाज़ को 'ग़ज़ल अल् कलब' कहते हैं। ग़ज़ल की ये अहम विशेषता है कि वो कभी भी अपने लग़्वी मानी में महदूद नहीं रही है। इसने हर ज़माने में और हर दौर में नये क़ालिब बदले और जवाँ दिलों पर हुक्मरानी कर रही है। बक़ौल हनीफ़ कैफ़ी— "ज़माने का तूफ़ान, वक़्त का कोई सैलाब, मुख़ालिफ़तों की कोई आँधी इसके पैर न उखाड़ सकी। ये जानदार और शानदार सिन्फ़े-सुख़न आज तक न सिर्फ़ ज़िन्दा-ओ-ताबिन्दा है, बल्कि हर दौर में पहले से ज़ियादा आबो-ताब, शानो-शौकत और ताक़तो-तवानाई के साथ जल्वागर हुई है।" (मआसिर उर्दू-ग़ज़ल, मुरत्तब प्रोफ़ेसर क़मर रईस, सफ़्हा नम्बर- **185**)

ग़ज़ल का हर शेर अपने-आप में जामे और मुकम्मल होता है। इसके दोनों मिस्रे हमरदीफ़ और हमक़ाफ़िया होते हैं, जिसे मत्ला कहा जाता है। पहले मत्ले के बाद अगर फिर कोई मत्ला आता है तो उसे 'हुस्ने-मत्ला' कहते हैं। ग़ज़ल के आख़िरी शेर में शायर अपना तख़ल्लुस इस्तेमाल करता है। जिसे मक़्ता कहते हैं। मिसाल मुलाहिज़ा हो—

ग़मे-हस्ती का 'असद' किससे हो जुज़मर्ग इलाज
शम्अ हर रंग में जलती है सहर होने तक

ग़ज़ल की सिन्फ़ का आग़ाज़ पहले फ़ार्सी-अदब में हुआ। इसका मूल स्रोत अरबी क़सीदा है। क़सीदा में इश्क़िया तश्बीब को ग़ज़ल के नाम से संज्ञित किया जाता था। जिसमें आम

तौर से मह्बूब का सरापा निहायत असरकारी अन्दाज़ में पेश किया जाता था। ईरान के शोअरा हज़रात ने 'तश्बीब' को क़सीदे से अलहदा कर एक मुस्तक़िल सिन्फ़(स्थायी विधा) को जन्म दिया। नवीं सदी में इस सिन्फ़ का बाक़ायदा आग़ाज़ फ़ार्सी-शायरी में हुआ। रफ़्ता-रफ़्ता दसवीं सदी के निस्फ़ में फ़ार्सी के मश्हूर शायर रौदकी ने इस सिन्फ़ में दीवान मुरत्तब कर इसे फ़रोग़ दिया। इस ग़ज़ल ने तरक़्क़ी का ज़ीना तय करना शुरू किया, जिसका सिल्सिला आज तक जारी है। वक़्त के साथ ही इश्क़े-मिज़ाजी के अलावा तसव्वुफ़, अख़्लाक़ और दीगर अस्री मसाइल ग़ज़ल के मौज़ूआत तय पाये। उर्दू में ग़ज़लगोई की इब्तिदा अमीर ख़ुसरो से हुई। ख़ुसरो की ज़बान में फ़ार्सी और हिन्दी अल्फ़ाज़ की कस्रत थी, फिर भी उन्हें नज़रअन्दाज़ करना मुम्किन नहीं है। नमूने के तौर पर कुछ अश्आर मुलाहिज़ा हों—

गोरी सोये सेज पे, मुँह पर डाले ख़ेस
चल ख़ुस्रो घर आपने, रैन भई सब देस

शबाने-हिज्राँ दराज़ चू ज़ुल्फ़ बरोज़े-वस्लत चू उम्र कोतह
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ

ख़ुस्रो के अलावा क़ुतुब शाह, मु. क़ुतुब शाह, अब्दुल्ला क़ुतुब शाह, वजही, ग़वासी, बहरी, नसरी वग़ैरह ने ग़ज़ल के इर्तिका में अहम किरदार निभाया। हालाँकि ये सभी शायर ग़ज़ल के शुरूआती दौर से तअल्लुक़ रखते हैं, मगर इनके कुछ अश्आर में, अदबी शान और ज़बान में काफ़ी पुख़्तगी पायी जाती है। इन शायरों ने बाद में आनेवाले शायरों के लिए ग़ज़ल की राह हमवार कर दी।

दकनी शायरों ने उर्दू-ग़ज़ल को सँवारने और निखारने में अहम किरदार अदा किया। इस सिल्सिले में वली दकनी का नाम ख़ुसूसियत का हामिल है। वली दकनी ने ग़ज़ल के मज़ामीन को वुस्अत दी। ग़ज़ल में नये-नये अन्दाज़ पैदा कर उसे नया रंगो-आहंग बख़्शा। इन्होंने तसव्वुफ़ और रवायत के मसायल को अपनी ग़ज़लों में पेश कर ग़ज़ल के दामन को वुस्अत दी। इनके बाज़ अश्आर इस क़दर मानीख़ेज़ हैं कि ऐसा मह्सूस होता है जैसे काफ़ी बाद में लिखे गये हों। वली के हमअसर शोअरा में नाजी, आबरू, यकरंग और आर्ज़ू क़ाबिले-ज़िक्र हैं। वली के कुछ अश्आर मुलाहिज़ा फ़र्मायें—

अयाँ है हर तरफ़ आलम में हुस्ने-बेहिजाब उसका
बग़ैर अज़दीदए-हैराँ नहीं जग में नक़ाब उसका

शग़ल बेह्तर है इश्क़बाज़ी का
क्या हक़ीक़ी औ क्या मिज़ाजी का

इन शायरों ने ईहामगोई और रिआयते-लफ़्ज़ी को निहायत सशक्त ढंग से पेश किया। इनके ग़ज़लों की मानवियत और असरआफ़्रीनी मुतास्सिर करती है। ईहामगोई और तकल्लुफ़-

ओ–तसन्नो की जगह उर्दू–ग़ज़ल में सादागोई, इंसानी जज़्बातो–एहसासात की तर्जुमानी पर ज़ोर देकर मिर्ज़ा मज़्हर जानेजानाँ ने अपनी अहमियत मनवायी। जानेजानाँ ने उर्दू–शायरी में फ़ार्सी की नयी–नयी तराकीब दाख़िल कीं और ज़बान में सफ़ाई–ओ–शिगुफ़्तगी पर ज़ोर दिया। शेर मुलाहिज़ा हों—

गर गुल को कहूँ गुल तो तेरे रू को क्या कहूँ
बोलूँ निगह को तेग़ तो अबरू को क्या कहूँ

ये हस्रत रह गयी किस–किस मज़े से ज़िन्दगी करते
अगर होता चमन अपना, गुल अपना, बाग़बाँ अपना

इसके बाद मीर तक़ी 'मीर', दर्द और 'सौदा' आस्माने–ग़ज़ल पर तुलूअ हुए। 'मीर' ने अपनी शायरी में क़ल्बी वारदातो–एहसासात को जगह दी। उनकी शायरी के उफ़ुक़ पर ग़मो–मायूसी के ग्रहण ने उन्हें नाउम्मीदी(निराशावाद) की शायरी कहलवाया, मगर 'मीर' का ग़म ज़ाती न होकर आफ़ाक़ी मह्सूस होता है। यही वज्ह है कि उनकी ग़ज़लों में घुटन, मायूसी के बजाय दर्दमन्दी का एह्सास होता है। 'सौदा' ने ग़ज़ल में दाख़िलीयत के बजाय ख़ारिज़ी दुनिया की गुफ़्तगू शुरू की। 'दर्द' का लबो–लहजा सूफ़ियाना और ग़ज़लों की फ़ज़ा पाकीज़गी के एहसास से भरी हुई है। इसके अलावा उस दौर में 'मीर', 'क़ायम' और मीर सोज़ ने अपनी ग़ज़लों में अपने क़ल्बी एहसासात की चाशनी पेश की। मीर तक़ी 'मीर' के कुछ अश्आर बतौर मिसाल मुलाहिज़ा फ़र्मायें—

नाज़ुकी उसके लब की क्या कहिए
पंखुड़ी इक गुलाब की–सी है

'दर्द' की सूफ़ियाना शायरी से कुछ अश्आर मुलाहिज़ा फ़र्मायें

जग में आकर इधर–उधर देखा
तू ही आया नज़र जिधर देखा
इन लबों ने न की मसीहाई
हमने सौ–सौ तरह से मर देखा

देहली के ग़ज़लगो शोअरा ने फ़ार्सी–शोअरा की पैरवी की। न सिर्फ़ फ़ार्सी–ग़ज़ल से विषय ग्रहण किये, बल्कि फ़ार्सी–ग़ज़ल का सारा इस्तिआराई निज़ाम उर्दू में मुंतक़िल कर दिया। इस तरह ग़ज़ल में हिन्दुस्तानी वस्फ़ का बुहरान–सा हो गया और ग़ज़ल पर ईरानी अस्रात गहराई से मुरत्तब हो गये। देहली में उर्दू–शायरी के दूसरे दौर में हालाँकि इब्हामगोई कम हुई, मगर सनाए का इस्तेमाल ज़ोर पकड़ने लगा।

अहमद शाह अब्दाली और नादिर शाह के हमलों ने दिल्ली में ख़ून की नदियाँ बहा दीं। शेरो–शायरी की बिसात पूरी तरह उलट गयी। अब रफ़्ता–रफ़्ता शेरो–शायरी का मर्कज़ लखनऊ बनने लगा, क्यूँकि दिल्ली से ज़ियादातर शोअरा लखनऊ मुंतक़िल हो गये। दौलत की फ़रावानी और ऐशपरस्ताना माहौल से पूरा लखनऊ बहुत–से शायरों का मस्कन साबित

हुआ। इन शोअरा में 'इंशा', 'जुर्अत', 'मुस्हफ़ी', 'नासिख़' और 'आतिश' सफ़े-अव्वल का दर्जा रखते हैं। इब्तिदा में इन शायरों ने ग़ज़ल का वही पुराना लबो-लहजा बरक़रार रखा जिसको देहली के माहौल ने परवान चढ़ाया, मगर रफ़्ता-रफ़्ता लखनऊ दरबार की ऐशपरस्तियों ने उस देहलवी लबो-लहजे पर अपना असर डाला और पूरे मआशरे पर असरअंदाज़ हो चुकी ऐशपरस्तियों की तरह ग़ज़लिया शायरी के मिज़ाज को भी पूरी तरह बदल दिया। देहलवी शायरी की दाख़िलियत, सोज़ो-गुदाज़ और दर्दमन्दी लखनऊ पहुँचकर शोख़ी, शिगुफ़्तगी और सरमस्ती के एहसास में तब्दील हो गयी।

देहलवी शोअरा ने महबूब की जिंस को पर्दे में रखकर पेश किया था, इसलिए एक ही शेर इश्क़े-हक़ीक़ी और मज़ाजी दोनो अर्थों में इस्तेमाल किया जा सकता है; मगर अब लखनवी शोअरा ने मुआम्लाते-इश्क़ को खुलकर बयान किया और उनके अश्आर से बिल्कुल वाज़े होने लगा कि शायर का महबूब औरत है। मुआमलाते-इश्क़ की सतह अब पस्ती का शिकार हो गयी। लखनवी शायरी में दाख़िली जज़्बातो-कैफ़ियात के इज़्हार के बजाय ज़बान और फ़न पर महारत की मिसालें पेश करने की होड़-सी लग गयी। इन लखनवी शोअरा में 'इंशा', 'जुर्अत', 'मुस्हफ़ी', 'नासिख़' और 'आतिश' सफ़े-अव्वल का दर्जा रखते हैं। बाज़ शोअरा के यहाँ लखनवी अस्रात पूरी तरह हावी नहीं हो सके, जिनमें 'मुस्हफ़ी' और 'इंशा' अहमियत के हामिल हैं। इन शोअरा के अलावा 'अमानत', 'रिन्द' और 'रश्क' वग़ैरह की ग़ज़लें भी क़ाबिले-तवज्जो हैं। 'आतिश' की ग़ज़ल का शेर मुलाहिज़ा फ़र्मायें—

> पयामबर न मयस्सर हुआ तो ख़ूब हुआ
> ज़बाने-ग़ैर से क्या शरहे-आर्ज़ू करते

'नासिख़' का एक शेर भी दर्जे-ज़ैल है—

> गुलों की पर्दादरी क्या तुम्हें हुई मंज़ूर
> जो आज सैरे-गुलिस्ताँ को बेनक़ाब चले

शौकते-अल्फ़ाज़ और नाज़ुकख़याली 'नासिख़' की ग़ज़लों की ख़ासियत है, मगर असरआफ़्रीनी उनकी ग़ज़लों में कम मिलती है।

देहली दोबारा आबाद हुई और यहाँ की रौनक़ो-चहल-पहल ने एक बार फिर शायरों के दिलों को सुकूनबख़्श माहौल अता किया। बहादुर शाह ज़फ़र बराये-नाम तख़्ते-शाही पर बैठे और अस्ल बागडोर अँग्रेज़ों ने अपने हाथ में रखी। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक आते-आते देहली की फ़जाएँ उर्दू-शायरी के नग़्मों से दोबारा गूँजने लगीं। उस दौर में उर्दू-शायरी के सबसे बड़े शायर 'ग़ालिब' उफ़ुक़े-शायरी पर नुमूदार हुए। साथ ही 'मोमिन' और 'ज़ौक़' जैसे बाकमाल शायरों ने अपने फ़न की जल्वागरी बिखेरी। इनमें सभी शाइरों का अपना तर्ज़े-इज़्हार जुदा था। 'ग़ालिब' ने इब्तिदा में 'बेदिल' की रविश अख़्तियार की। साथ ही हिन्दी के दूसरे शायरों 'साइब', 'ग़नी' वग़ैरह से भी मुतास्सिर रहे मगर जल्द ही अपना मौलिक रंग निखारने में कामयाब हुए और उन शायरों के महदूद तर्ज़े-इज़्हार और

उस्लूब से काफ़ी आगे निकल गये। 'ग़ालिब' के अश्आर में फ़ार्सी को काफ़ी अहमियत हासिल रही, बल्कि उनकी बाज ग़ज़लों में क्रिया–पद को छोड़कर बाक़ी पूरा शेर फ़ार्सी का है। जैसे—

शुमारे–सुब्ह मर्ग़ूब बुत मुश्किल पसन्द आया
तमाशए–बयक कफ़ बर्दने–सद दिल पसन्द आया

'आया' को 'आमद' से बदलकर देखें तो पूरा मिस्रा फ़ार्सी का हो जायेगा। मगर बाद में 'ग़ालिब' ने इस मुश्किलगोई को तब्दील कर आसान लबो–लहजा अख़्तियार किया। चुनांचे उनके दीवान से सहलगोई का एक मशहूर शेर मुलाहिज़ा हो—

दिले–नादाँ तुझे हुआ क्या है
आख़िर इस दर्द की दवा क्या है

आह को चाहिए इक उम्र असर होने तक
कौन जीता है तेरी ज़ुल्फ़ के सर होने तक

'ग़ालिब' उर्दू के एक अज़ीम शायर साबित हुए। उन्होंने ग़ज़ल को इश्क़ो–आशिक़ी के हिसार से निकालकर फ़िक्रो–आगही के ऐसे–ऐसे गोशों की सैर करायी कि उर्दू–ग़ज़ल ने फ़िक्र के एक अज़ीम उन्सुर तक रसाई हासिल की। मानीआफ़्रीनी के लिहाज़ से 'ग़ालिब' अपने अहद के जदीद शायर थे। उनकी शायरी में आनेवाले दौर के क़दमों की आहट साफ़ सुनायी देती है। यही वज्ह है कि उस ज़माने में लिखे हुए 'ग़ालिब के अश्आर आज के मसाइल का अहाता करते हुए भी नज़र आते हैं। शेर मुलाहिज़ा हो—

बाज़ीचा–ए–अत्फ़ाल है दुनिया मेरे आगे
होता है शबो–रोज़ तमाशा मेरे आगे

ग़मे–हस्ती का 'असद' किससे हो जुज़मर्ग इलाज
शम्अ हर रंग में जलती है सहर होने तक

'ग़ालिब' ने फ़न्नी एतबार से भी ग़ज़ल के दामन को वुस्अत दी। अपने पेचीदा और तहदार जज़्बात की तर्जुमानी की ख़ातिर उन्होंने नयी–नयी अलामतें और जानदार तश्बीहात–ओ–इस्तिआरात तख़्लीक़ किये। उन्होंने उर्दू को एक नयी दिशा, एक नये आयाम से परिचित कराया। 'ज़ौक़' अगरचे अपने क़सीदों के लिए मशहूर हुए, मगर उनकी ग़ज़लों में हुस्न, ज़बानो–बयान, सादगी–ओ–सफ़ाई, बेसाख़्तगी–ओ–बेतकल्लुफ़ी और शीरीनी–ओ–हलावत मुतास्सिर किये बिना नहीं रहती। 'ज़ौक़' की ग़ज़लों ने उर्दू–ज़बान को एक साफ़–सुथरा, शिगुफ़्ता–ओ–शाइस्ता लबो–लहजा बख़्शा। शेर मुलाहिज़ा हो—

अय शम्अ तेरी उम्र तबई है एक रात
हँसकर उसे गुज़ार या रोकर गुज़ार दे

बजा कहे जिसे आलम उसे बजा समझो
ज़बाने-ख़ल्क़ को नक्कारा-ए-ख़ुदा समझो

'मोमिन' ने ख़ालिस इश्क़िया शायरी को अख़्तियार किया। मुआमलाते-इश्क़ को 'मोमिन' ने हमारंग अन्दाज़ में पेश कर इश्क़ के मुतन्नो कैफ़ियात और जज़्बात की मुँहबोली तस्वीर पेश की। उनका उस्लूब मुन्फ़रिद और लबो-लहजा आशिक़ाना था। उन्होंने उर्दू-ग़ज़ल में हुस्नो-इश्क़ का एक निगारख़ाना आबाद कर दिया। 'ग़ालिब' की तरह 'मोमिन' ने भी दो मिस्रों की ग़ज़ल में ख़यालात का एक वसीअ समन्दर पेश किया। सांकेतिकता उनकी शैली में जा-ब-जा जल्वागर है।

'ग़ालिब', 'मोमिन' और 'ज़ौक़' के बाद उर्दू-ग़ज़ल में कुछ वक़्त के लिए स्थिरता की स्थिति रही। उस दौर में 'असर', 'जलाल' और 'दाग़' जैसे शायरों ने ग़ज़ल के इल्म को सँभाले रखा। सर सैयद की अलीगढ़तहरीक का भी यही ज़माना था। उस दौर में उर्दू-अदब की तमाम अस्नाफ़ में तब्दीलियों की आँधी चल रही थी। जिससे अस्री तक़ाज़ों के मुताबिक़ इल्म की तज्वीज-ओ-मआशरे की इस्लाह पर तवज्जो बतौरे-ख़ास मर्कूज़ हो गयी थी। उस वक़्त 'हाली' और 'आज़ाद' ने ग़ज़लिया शायरी के ज़रिऐ समाज की बुराइयों को तन्क़ीद का निशाना बनाया। 'नेचुरल शायरी' का तसव्वुर पेश कर ग़जल के दामन को वुस्अत दी, नज़्मनिगारी के फ़न ने तरक़्क़ी पायी और ग़ज़ल कहीं पीछे रह गयी। उसी ज़माने में हस्रत मोहानी ने ग़ज़ल को पुनर्जीवित कर उसे मंज़रे-आम पर ला दिया। उन्होंने ग़ज़ल में इश्क़िया शायरी को अज़ीयत बख़्शी और एक नये ग़नाई आहंग से मुतारुफ़ कराया। उन्होंने ग़ज़ल को उस नासाज़गार माहौल में वक़्त के साथ आगे बढ़ने की ताक़त बख़्शी। अश्आर मुलाहिज़ा हों—

दिल में क्या-क्या हवसे-दीद बढ़ायी न गयी
रू-ब-रू उनके मगर आँख उठायी न गयी

ख़िरद का नाम जुनूँ पड़ गया जुनूँ का ख़िरद
जो चाहे आपका हुस्ने-करिश्मासाज़ करे

'हस्रत' के साथ ही उनके मुआसिर ग़ज़लगो शोअरा 'फ़ानी', 'असग़र', 'यगाना', 'जिगर', 'शाद' अज़ीमाबादी वग़ैरह ने उर्दू-ग़ज़ल के दामन को वुस्अत दी। इन शोअरा की ग़ज़ल में महबूब का रवायती तसव्वुर तब्दील हो गया। ग़ज़ल से तवायफ़ का अख़्राज पैदा हुआ। अब उनकी शायरी में महबूब गोश्त-पोश्त की एक औरत थी, जो न सिर्फ़ साहिबे-दिल थी, बल्कि रू-ब-रू भी थी। 'शाद' का शेर मुलाहिज़ा हो—

ये बज़्मे-मय है या कोताहदस्ती में है महरूमी
जो बढ़कर ख़ुद उठाये हाथ में मीना उसी का है

इन शायरों ने ग़ज़ल को रिवायती हिसार से निकालकर अपने अहद के उभरते नये

तक़ाज़ों से आँखें मिलाकर गुफ़्तगू करने का हुनर बख़्शा। अब ग़ज़ल में हुस्नो–इश्क़ के अलावा ज़िन्दगी–ओ–दौर के दूसरे मौज़ूआत भी अहमियत हासिल करने लगे। 1936 ई. में तरक़्क़ीपसन्द तहरीक वजूद में आयी। अब उर्दू–शायरी ख़यालातो–जज़्बात की दुनिया से आगे बढ़कर हक़ीक़त की दुनिया से रूशनास हुई। पुरानी रविश को बेवक़्त की रागिनी क़रार देकर उसकी मुख़ालिफ़त की गयी। उसके बाद ग़ज़लगो शोअरा की सफ़ में इक़्बाल नज़र आते हैं। हालांकि इक़्बाल अपनी नज़्मों की वज्ह से काफ़ी मश्हूर हुए, मगर इनकी ग़ज़लों को भी नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता है। शेर मुलाहिज़ा हो—

अगर कज रू हैं अंजुम, आस्माँ तेरा है या मेरा
मुझे फ़िक्रे–जहाँ क्यूँ हो, जहाँ तेरा है या मेरा
उसी कौकब की ताबानी से है सारा जहाँ रौशन
ज़वाले–आदमे–ख़ाकी, ज़ियाँ तेरा है या मेरा

'फ़िराक़' गोरखपुरी ने उर्दू–ग़ज़ल को एक नये रौ से आश्ना कराया, जहाँ हक़ीक़ी कैफ़ियात को मुअस्सिर अन्दाज़ में पेश किया गया। उन्होंने हयातो–कायनात के मसाइल को पूरी फ़राख़दिली से उर्दू–ग़ज़ल के दामन में समो दिया। 'फ़िराक़' की इस नयी तर्ज़ का जवाँ नस्ल पर इस क़दर असर हुआ कि ग़ज़ल का मिज़ाज ही बदल गया। बीसवीं सदी की तीसरी और चौथी दहाई में जब अदब में नयी–नयी तहरीकों ने जनम लिया (हल्क़ा–ए–अरबाबे–ज़ौक़, तरक़्क़ीपसन्द अदब) तो ग़ज़ल ने उन्हीं के प्रचार में अहम किरदार निभाया। अब मज्रूह सुल्तानपुरी, फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' और 'साहिर' लुधियानवी ने ग़ज़ल के ज़रिए अपने अग़राज़ो–मक़ासिद से अवाम को रूशनास कराया। अब ग़ज़ल ने एक सरल ज़बान के साथ अवाम में और भी मक़्बूलियत हासिल की और उन शायरों के हाथों अस्त्री तक़ाज़ों में बन–सँवरकर मंज़रे–आम पर आयी। उसने न सिर्फ़ ज़ेह्नी तस्कीन की ज़िम्मेदारी निभायी, बल्कि मुल्क के सियासी मसाइल को भी अपने नग़्मों में पिरोकर अवाम तक पहुँचाया शेर मुलाहिज़ा हो—

जला के मिस्अले–जाँ हम जुनूँ सिफ़ात चले
जो घर को आग लगाये हमारे साथ चले

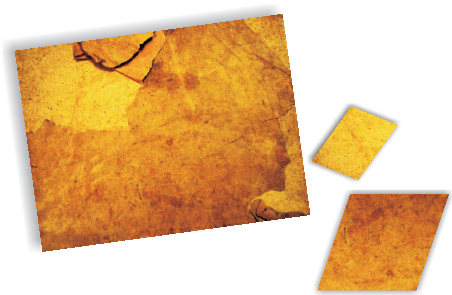
–'मज्रूह' सुल्तानपुरी

जज़्बे–मुसाफ़िराने–रहे–यार देखना
सर देखना न संग न दीवार देखना

–फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़'

उर्दू–ग़ज़ल के सफ़र का ये सिल्सिला हनोज़ जारी–ओ–सारी है और जब तक इंसान इस दुनिया में साँस लेता रहेगा, उसके दिलों की धड़कन रफ़्तार में रहेगी, तब तक ग़ज़ल की रफ़्तार भी जारी रहेगी।

लिप्यन्तरण एवं अनुवाद : वहीद रहमान



अस्लम इलाहाबादी
13/ सी, काटजू रोड
इलाहाबाद (उ. प्र.)
मोबाइल : 09919306515

ये फ़ैसला कर पाना मेरे लिए ज़रा मुश्किल रहता है कि अस्लम इलाहाबादी के भीतर का शायर बड़ा है या नक़्क़ाद (आलोचक)। उर्दू-अदब में अस्लम साहब उन चन्द गिने-चुने लोगों में हैं जो एक साथ शायर और तन्क़ीदनिगार दोनों हों। इलाहाबाद के शायरों को केन्द्र में रखकर 'उर्दू-शायरी का आग़ाज़ और इर्तिक़ा' अर्थात् ज़िला इलाहाबाद में उर्दू-शायरी के उद्भव और विकास पर इन्होंने शोधकार्य (डी. फिल.) पूरा किया है। नज़्मों का एक संग्रह 'मुहब्बत ख़ुदा है' तथा ग़ज़लों के तीन संग्रह 'सुलगती रेत', 'मोम के बाज़ू' तथा 'चाँदनी के फूल' प्रकाशित हो चुके हैं। कई महत्त्वपूर्ण किताबें शीघ्र ही प्रकाशित होने की क़तार में हैं।

यहाँ पेश किया जा रहा लेख उनकी पुस्तक 'उर्दू की निसाई शायरी' (2008) से सम्पादित, अनूदित और लिप्यन्तरित है। इस किताब में जदीद दौर की अठारह शायराओं पर विस्तारपूर्वक चर्चा है, और मेरी जानकारी में इतनी तफ़सील से शायरात पर तब्सिरा करनेवाली ये पहली किताब है। अस्लम साहब की योजना है कि इसका दूसरा भाग भी प्रकाशित किया जाय, जिसमें उन शायराओं को भी शामिल किया जा सके जो पहली किताब में नहीं आ सकी हैं। इस किताब की महत्ता को देखते हुए इसे 'ग़ज़लकार' के अगले अंकों में भी सिल्सिलेवार प्रकाशित किया जाता रहेगा।

डॉ. असलम इलाहाबादी

उर्दू-शायरी की अहम शायरात-1

जागीरदाराना समाज ने सदियों तक औरतों को लिखने-पढ़ने से दूर रखा। इधर आधी सदी से औरतों ने इल्मी-ओ-अदबी सरगर्मियों में हिस्सा लेना शुरू किया। चन्द दहाइयों से शायरी के साथ-साथ अफ़्सानों, ड्रामों और नॉवेल जैसी विधाओं में औरतों ने कारहा-ए-नुमायाँ अंजाम दिये।

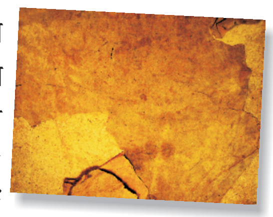
सदियों से ग़ज़ल का शाब्दिक अर्थ औरतों से लगावट की बातें करने तक ही सीमित था। औरतों ने भी इसी शैली के तहत रचनाएँ शुरू की। ये शायराओं का शुरूआती दौर कहा जायेगा। आज मुआमला इसके बरअक्स है। औरत सीधे तौर पर मर्दों से ख़ुद मुख़ातिब नज़र आती हैं। मौजूदा दौर में औरतों की कर्मठता ने इसे सिद्ध भी किया। इस सच्चाई से इंकार नहीं किया जा सकता कि आज औरतें मर्दों के कन्धे से कन्धा मिलाकर इस नाज़ुक विधा में भी अदब की रचना करने में पेश-पेश नज़र आती है। यूँ तो पुरानी शायराओं की अच्छी-ख़ासी तादाद हमारे सामने है, लेकिन चन्द शायराएँ ही ऐसी हैं, जिन पर नज़र ठहरती है। जिनमें अहमदी बेगम सोनीपत, माहे-अफ़ीफ़ा देहली, नवाब सद्र महल, नवाब आलम मलिका-ए-वाजिद अली शाह, सुल्तान बेगम, आबिदा उमराव बेगम, शाहजहाँ बेगम शीरीं शायराओं ने दीवान पेश किये हैं।

आधुनिक युग की शायराओं में अदा जाफ़री बदायुँनी का काव्य-संग्रह 'मैं साज़ ढूँढ़ती रही' बहुत स्वीकार हुआ। सैदा अख़्तर के कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। नज़्मा तसद्दुक़ का काव्य-संग्रह सौ अश्आर पर आधारित है फिर भी लोगों की निगाह का मर्कज़ बना। ज़ेब उस्मानिया का 'मता-ए-हरम'; ज़ाहिदा ख़ातून का काव्य-संग्रह 'आईना-ए-हरम' और 'फ़िर्दौस सिपहर'; आरा बेगम 'पिनहाँ' का काव्य-संग्रह 'आइना-ए-जमाल' और 'क़ौसे-क़ज़्अ'; ग़ज़ाला बरेलवी का काव्य-संग्रह 'ग़ज़ाल'; बिल्क़ीस फ़ातिमा का 'जज़्बाते-बेकस'; महमूदा ख़ातून का काव्य-संग्रह 'गुलिस्ताने-सुख़न'; बानो ताहिरा सईद का 'बर्गे-सब्ज़'; रूही देहलवी, वहीदा नसीम, रशीदा सलीम के काव्य-संग्रह भी सराहे गये।

ये वो ज़माना था जब इस नाज़ुक विधा ग़ज़ल का अदबी ज़ौक़-ओ-शौक़ घर की चहारदीवारी तक सीमित था। 'तहज़ीबे-निस्वाँ' और 'अस्मत' जैसी पत्रिकाओं ने औरतों के लिये आसानियाँ पैदा कर दी, जिसमें शायराओं की ग़ज़लें शाया(प्रकाशित) होती रहीं। मौजूदा दौर में मुशायरे कमाई का ज़रिआ बन गये। आज मुशायरों के स्टेज पर शायराओं की तादाद पहले से कहीं ज़ियादा नज़र आती है, वो भी निन्यानवे फ़ीसद कृपा-पात्र और बैसाखीज़दा। ख़ैर ये एक अलग बहस है।

यहाँ मैं हिन्दुस्तान, पाकिस्तान और अन्य पश्चिमी देशों में बसनेवाली शायराओं का ज़िक्र कर रहा हूँ जो अदबी पत्र-पत्रिकाओं से बाक़ायदा तौर पर जुड़ी हुई हैं। 1947 के बाद बहुत-से ख़ानदान पाकिस्तान चले गये। यही नहीं रोज़ी-रोज़गार की चिन्ता ने उन्हें पश्चिमी देशों तक पहुँचा दिया। हिजरतों और दरबदरी के सिल्सिले बरसों चलते रहे। हमारी बहुत-सी ऐसी शायराएँ हैं, जिनके हिस्से में दो-दो हिजरतों के दुख आये।

पाकिस्तानी हुक्मरानों की डिक्टेटरशिप ने बहुत-से क़लमकारों को वतन छोड़ने पर मज्बूर कर दिया। पश्चिमी देशों के अलाावा बहुत-से लोगों ने सात समन्दर पार का रुख़ किया। आज भी न्यूयार्क, टोरण्टो, न्यू जर्सी, शिकागो, कनाडा और अमेरिका के दीगर शहरों में पाकिस्तानियों और हिन्दुस्तानियों की एक तादाद आबाद है, जिन्होंने उर्दू-ज़बान को ग्लोबल ज़बान बना दिया। आज का निसाई अदब(औरतों द्वारा रचा गया साहित्य) पहले से कहीं ज़ियादा अर्थपूर्ण और उद्देश्यपूर्ण है। पहले शायराएँ बने-बनाये रास्तों पर चहलक़दमी करती थीं, जिन्हें हम रचनाकर्म का नाम देते रहे; जहाँ सिर्फ़ मह्बूब से शिकवा-शिकायत ही की जाती रही। ये वो दौर था जब शम्आ काँच के फ़ानूस में जलती थी और सदाएँ दिल के दरवाज़े पर दस्तकें देकर लौट जाती थीं। जहाँ मर्दानख़ाना से ज़नानख़ाना अलग हुआ करता था। जहाँ औरतों का ऊँची आवाज़ में बोलना एक ऐब समझा जाता था; लेकिन रफ़्ता-रफ़्ता औरतों को बेजा बन्दिशों से आज़ादी मिली। वो खुलकर बात कहने की हक़दार हो गयीं। मीडिया ने सारे फ़ासले ख़त्म कर दिये। टेलीविजन ने गूँगी-बहरी समाअतों को ज़बान दे दी। समाज में हज़ार तरह की ज़रूरतों ने घर करना शुरू कर दिया। ख़ूब से ख़ूबतर की तलाश में इंसानी ज़िन्दगी आज सफ़र कर रही है। गाँव के भोले-भाले लोगों पर भी शह्र की ज़िन्दगी असरअन्दाज़ होने लगी। इस तेज़ रफ़्तारी के दौर में नयी-नयी खोजें वजूद में आयीं। इंसानों के बीच एक-दूसरे पर हावी हो जाने का जुनून रोज़-ब-रोज़ बढ़ता जा रहा है। आज दुनिया की बड़ी ताक़तों ने इतने विनाशकारी हथियार तैयार कर लिए हैं कि उँगली की ग़लत जुम्बिश से लम्हा भर में हँसती-खेलती दुनिया ख़ाक हो सकती है।



आज का निसाई अदब, जैसा कि मैंने पहले कहा है कि हर तरह के विषय और सन्दर्भ उपस्थित करता है, जहाँ ऐशो-इश्रत की परछाइयाँ हैं, वहीं मसले-कुचले एहसासात भी सर उठाते हैं, तो आर्ज़ूओं और तमन्नाओं के सैकड़ों बनते-बिगड़ते अफ़्साने भी हैं। समाज

में प्रत्यक्ष होनेवाले अच्छे-बुरे वाक़िआत भी हैं। मज़हबी मतभेद, जाति-कुल-वंशवाद, गुमराह ख़्वाहिशें, पारिवारिक ज़िन्दगी के दुख-दर्द, हिजरत और दरबदरी, नयी तहज़ीब से दिलचस्पी, फ़िरक़ापरस्ती की आग में सुलगते हुए लम्हात, विश्वस्तरीय समस्याएँ भी आज के निसाई अदब का हिस्सा बनती हैं। नारी-विमर्श या स्त्री-विमर्श चूँकि यूरोप से चलकर पाकिस्तान पहले पहुँचा, हिन्दुस्तान बाद में आया, इसलिए दोनों जगह की नयी शायराओं पर स्त्री-विमर्श के आन्दोलनों का असर होने लगा। ग़ज़ल के साथ-साथ छन्दमुक्त और स्तरीय नज़्मों का चलन आम होता गया। रोज़-ब-रोज़ नित नये अनुभव होते गये। औरतों को अपनी मिल्कियत समझने और उन पर बेजा हुक्म चलानेवाला मर्दाना समाज ये सोच भी नहीं सकता था कि उस पर भी अँगुली उठने लगेगी।

किश्वर नाहीद, फ़हमीदा रियाज़ ने औरतों को अपनी बात कहने का सलीक़ा और हौसला बख़्शा। धीरे-धीरे स्त्री-आन्दोलनों का जादू सर चढ़कर बोलने लगा। यहाँ तक कि अब कोई हद मुक़र्रर न रही। नज़्म के साथ-साथ औरतों ने नस्रनिगारी(गद्य-लेखन) के क्षेत्र में भी अपने को सिद्ध किया। कहानी और नॉवेल जैसे फ़न को बुलन्दी पर पहुँचा दिया गया, जिनमें क़ुर्रतुल ऐन हैदर, इस्मत चुग़ताई, ख़दीजा मस्‌रूर, हाजिरा मस्‌रूर, जमीला हाशमी, हिजाब इम्तियाज़ अली के नाम लिये जा सकते हैं। यही नहीं, आज बहुत-सी औरतें साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की एडीटर भी हैं। हिन्दुस्तान से ज़ियादा पाकिस्तान में ऐसी औरतों की अच्छी-ख़ासी तादाद नज़र आती है; जिनमें अज़्रा अस्‌फ़र, सैदा हिना, ज़ाहिदा हिना, शमीना राजह, ज़ैतून बानो के नाम क़ाबिले-ज़िक्र हैं। अनुवाद एवं पत्रकारिता के मैदान में भी औरतें आगे-आगे नज़र आती हैं। इसके अलावा आलोचना, इतिहास, निबन्ध, यात्रा-वृत्त, आत्मकथा और अन्य लेखन-विधाओं में भी औरतें प्रवृत्त और क्रियाशील हैं। यहाँ मैं कुछ हिन्दुस्तानी और पाकिस्तानी शायरात की शायरी का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर रहा हूँ। सबसे पहले अदा जाफ़री से बात का आग़ाज़ किया जाय।

अदा जाफ़री बदायुँनी

आज़ादी से पहले ही बहैसियत शायरा अदा जाफ़री ने अपना अदबी सफ़र शुरू कर दिया था। 1945-46 का वो ज़माना जब अकेली औरत को घर से निकलने की इजाज़त न थी। घर में तालीम के नाम पर मज़हबी किताबें पढ़ा दी जाती थीं। लिखने पर फिर भी पाबन्दी लगी थी। उस दौर की औरत एहसासे-महरूमी को सीने से लगाकर जी रही थी, जहाँ बिला वज्ह चूड़ियों का खनकना भी मर्दाना मिज़ाज के ख़िलाफ़ था। जागीरदाराना व्यवस्था की अपनी अलग शैली थी। लोग अतीत को वर्तमान पर तर्जीह देना अपनी ख़ानदानी शान समझते थे। ऐशो-आराम, सुख-समृद्धि तथा वैभव-सम्पन्नता के दौर में हवेलियों के अन्दर मर्दानख़ाना और ज़नानख़ाना अलग हुआ करता था, ताकि मर्दों के किसी क्रिया-कलाप पर

औरतों की नज़र न पड़े। औरतें सिर्फ़ अनुमान ही किया करती थीं। अदा जाफ़री ने शह्र बदायूँ के ऐसे ही माहौल में आँखें खोलीं। घर की तालीम ने इतनी सूझबूझ दे दी कि नौ बरस की उम्र में ही पहला शेर कह डाला। नाना की सरपरस्ती में 'अदा' की शायरी घर की चहारदीवारी में पर्वान चढ़ने लगी। अदा जाफ़री का ज़ेह्न शुरू से ही नज़्म की तरफ़ आकर्षित था। हालाँकि अदा ने ग़ज़लें भी काफ़ी तादाद में कही हैं। 'जो रही सो बेख़बरी रही' के हवाले से ये बात सामने आयी कि उस दौर की साहित्यिक पत्रिकाओं 'सवेरा', 'ईश्‌या-ए-अदबे-लतीफ़', 'अफ़्कार' और 'शाहकार' में अदा की नज़्में प्रकाशित होती रहीं।

अदा जाफ़री की शायरी औरतों के साथ होनेवाली नाइंसाफ़ी, हक़तलफ़ी, बेजा पाबन्दियों के ख़िलाफ़ पहला आक्रोश कही जा सकती है। दरअस्ल अदा ने अपने ख़ानदान में औरतों को घुट-घुटकर जीते-मरते अपनी आँखों से देखा है। रस्मो-रिवाज की बेड़ियों का बोझ अदा ने ख़ुद भी महसूस किया। अदा की नज़्म 'बेजारी' इस बात का सुबूत है, जो 1945-46 में मंज़रे-आम पर आयी। तब वो इण्टरमीडिएट की छात्रा थीं।

अदा जाफ़री की शायरी जीर्ण-शीर्ण हो चुकी परम्परा से आक्रोश और विद्रोह है। यूँ समझिए मज्बूर-ओ-बेकस, बेहाल और नामुरादियों के लिए ही उनकी शायरी समर्पित है, जहाँ खुलकर हँसने और रोने की इजाज़त नहीं। अदा जाफ़री की ज़ियादातर नज़्में, जिनमें ख़ासकर 'साज़ ढूँढ़ती रही', 'मेरे ख़्वाब अधूरे', 'विसालो-हिज्र के मौसम', 'शामो-सहर के दरमियान' और 'शजरे-नाज़ाँ' के अध्ययन से पता चलता है कि इनमें आक्रोश और विद्रोह का स्वर बड़े रख-रखाव के साथ सक्रिय है। सब्रआज़्मा औरत का तसव्वुर, माँ, बहन, सहेली, घर की नौकरानी, पड़ोस में बसनेवाली औरत; सभी को अदा ने अपनी नज़्मों में जगह दे दी है। हिन्दुस्तान में सर सैयद की तह्रीक और मौलाना 'हाली' की सुधारवादी नज़्में स्त्रियों की शिक्षा के लिए मुआविनो-मददगार साबित हुईं। उनकी कोशिशों से रूढ़िवादिता के जाले साफ़ हुए और लड़कियों की तालीम के दरवाज़े खुल गये। दूसरी तरफ़ तरक़्क़ीपसन्द तह्रीक (प्रगतिशील आन्दोलन) ने लोगों के लिए नयी राहें हमवार की। लोगों की फ़िक्र में तब्दीली आयी। क़लमकारों ने एक आवाज़ होकर जागीरदाराना व्यवस्था के ख़िलाफ़ मुहिम छेड़ दी। सियासी इन्क़िलाब के साथ-साथ अदब में भी नये-नये रुज्हानात जगह पाते गये और यही वज्ह है कि अदा जाफ़री के यहाँ तरक़्क़ीपसन्द तह्रीक के इन्तिहापसन्द सियासी नज़रियात की लय काफ़ी तेज़ है। बक़ौल अदा जाफ़री— "मेरे अश्‌आर तरक़्क़ीपसन्द अदीबों की रिसायल(पत्रिकाओं) में बाक़ायदगी से शाया हो रहे थे। तरक़्क़ीपसन्द अदब के जो इंतख़ाबात(संकलन) शाया होते, उनमें भी मेरी नज़्में शरीके-अशायत(सम्मिलित-प्रकाशित) होतीं।"[1]

अदा की इब्तिदाई दौर की शायरी में उस्तादों का अच्छा-ख़ासा असर दिखायी

पड़ता है। ख़ास तौर पर इक़्बाल की शायरी का असर नज़्मों में जा-ब-जा नज़र आता है। उनकी बहुत-सी नज़्में जैसे— 'ख़ाके-वतन को सलाम', 'इम्तिहाने-वफ़ा', 'रहे यकगाम', 'मेरे शहीद' में वही लहजा, वही आहंग है जो इक़्बाल की शायरी का आधार है। यूँ तो 1947 में ही अदा जाफ़री ने अपना मज्मूआ(काव्य-संग्रह) 'मैं साज़ ढूँढ़ती रही' तर्तीब दे दिया था, जो 1950 में मंज़रे-आम पर आया।

बँटवारे के बाद बहुत-से ख़ानदान हिजरत करके पाकिस्तान चले गये और बहुत-से लोग सरहद पार करके हिन्दुस्तान आ गये। इलाके बँटे, ज़मीनें बँटीं, नदी-तालाब, घर-आँगन में दीवार उठ गयी। आनेवालों को पनाह मिली। हिन्दुस्तान से जानेवाले घाटे में रहे। सूबापरस्ती, नस्ली तरफ़दारी और कुछ फ़ौजी हुक्मरानों के ग़लत क्रियाकलापों ने पाकिस्तान की फ़ज़ा को तितर-बितर करके रख दिया। आये दिन पठान सिंधी और पंजाबी मुहाजिर (शरणार्थी) दस्त-ओ-गिरेबाँ नज़र आते रहे।

अदा जाफ़री 1948 में ही बदायूँ से हमेशा के लिए कराची चली गयीं; जिसका दुख उनकी नज़्म 'आईनों के दुख' में महसूस किया जा सकता है। जो एक अलामती (Symbolic) नज़्म है। अदा जाफ़री के यहाँ बहुत-सी ऐसी नज़्में हैं जो पलकें भिगो देती हैं। अदा ने ख़ुद भी हिजरत की मुसीबतें उठायी हैं और अपनों-से बिछड़ने का ग़म वही जान सकता है, जिसने अपने भरे-पूरे ख़ानदान को छोड़ते हुए देश छोड़ा हो। कुछ आस, कुछ उम्मीदें रख़्ते-सफ़र के तौर पर उसके साथ होती हैं और जब उम्मीदें टूट जाती हैं तो फिर ख़त्म होनेवाला सिल्सिला शुरू होता है और ये उस सैलाब की सूरत अख़्तियार करता है जो अपने साथ अतीत और वर्तमान दोनों को बहा ले जाता है। कुछ यही हालात अदा जाफ़री के साथ पेश आये जिसने अदा जाफ़री को चन्द साल ख़ामोश रखा। 1965 की जंग ने उनकी ख़ामोशी तोड़ दी जब उन्होंने अपने शौहर के फूफीज़ाद भाई मेजर ज़ियाउद्दीन अब्बासी की मौत पर एक नज़्म 'मेरे शहीद' के उन्वान से लिखी। इस बड़ी घटना ने उनके अन्दर की शायरा को फिर से ज़िन्दा कर दिया और दूसरा काव्य-संग्रह 'शहीदे-दर्द' 1968 में मंज़रे-आम पर आया। ये काव्य-संग्रह उसी हादिसे की देन कहा जायेगा।



पाकिस्तान वजूद में आते ही हर तरफ जातिवाद, क्षेत्रवाद का चलन आम हो गया। ख़ूँरेज़ी, आपसी रंजिश, तानाशाही, ज़मींदाराना ज़ुल्म, रिश्वतसितानी का दौर-दौरा था। शह्र कराची ग़ैरमह्फ़ूज़ फ़ज़ा में साँस ले रहा था। अयूब ख़ान के दौरे-हुकूमत में नये-नये क़ानून वजूद में आये, जिनसे अवाम ज़ेह्नी परेशानियों का शिकार हो गयी। ये अश्आर उस युग को प्रतिबिम्बित करते हैं, मुलाहिज़ा कीजिए—

मेरे पास कासए-चश्म में, कई शब चराग़ निहाँ रहे
वो थे ख़ाके-राह का क़र्ज़ भी, वो जो नक़्दे-जाँ से गिराँ रहे

बक़ौल अदा जाफ़री— ''मेरी आँखों मे आज कराची का तालीमी माहौल भी है, जहाँ नौख़ेज़

हाथों से क़लम छीनकर ख़ूँ-आशाम हथियार थमा दिये गये हैं। जहाँ साल में आठ महीने फ़सादात की वज्ह से दर्सगाहें बन्द रहती हैं।''[2]

अदा जाफ़री ने पश्चिमी देशों का दौरा किया और वहाँ की तह्ज़ीब, ज़बान-ओ-अदब से परिचित हुईं। दूसरी ज़बानों के अदब के अध्ययन ने अदा की फ़िक्र में नयापन और गहराई पैदा कर दी। अदा की शायरी में नारी-आन्दोलनों का असर पश्चिम की देन है। अदा जाफ़री के अलावा किश्वर नाहीद, फ़हमीदा रियाज़ के यहाँ नारी-आन्दोलनों का असर कुछ ज़ियादा ही देखने को मिलता है। अदा जाफ़री के यहाँ औरत के दुर्भाग्य और उत्पीड़न की दास्तान जगह-जगह नज़्मों में बयान की गयी है। कुँवारी लड़कियों से लेकर शादीशुदा औरतों के दुखों को और उनके जज़्बातो-एहसासात को अदा जाफ़री ने बड़ी ख़ूबी के साथ अपनी नज़्मों का हिस्सा बना लिया।

हिन्दुस्तान की तक्सीम ने बहुत-से घर उजाड़ दिये। कितनी माँगें सूनी हो गयीं। स्वार्थी एवं अवसरवादी पाकिस्तानी हुक्मरानों की हठधर्मिता ने बहुत-से लोगों को दर-ब-दर होने पर मज्बूर कर दिया। ये दूसरी हिजरत थी जिसका असर अदा जाफ़री की नज़्मों में जा-ब-जा देखने को मिलता है। पूर्वी पाकिस्तान जहाँ भूख, ग़रीबी और बेकारी की मार कुछ ज़ियादा थी। हक़तलफ़ी और नाइंसाफ़ी ने दिलों की दूरी बढ़ा दी। बहुत-से लोग इधर से उधर हो गये। उस सुलगते-तपते मौसम में अदा जाफ़री ने बहुत-सी नज़्में सृजित कर डालीं। 'अभी तो शबख़ूँ नहीं हुआ है', 'शबे-चिराग़ आज कहाँ से लाऊँ', 'तू जानता है', 'आज की रात कितनी तन्हा है'। ये तमाम नज़्में दूसरी हिजरत की अक्कास(प्रतिबिम्ब) हैं।

पाकिस्तान के बिगड़े हुए हालात ने लोगों को अमेरिका, यूरोप, मध्य एशिया की तरफ़ तलाशे-रोज़गार के लिए शरण लेने पर मज्बूर कर दिया। ये नयी नस्ल की हिजरत थी जो ज़रूरियाते-ज़िन्दगी के तहत की गयी थी। इसमें आर्थिक लाभ भी शामिल है। अदा जाफ़री के बेटों और बेटी ने अमेरिका का रुख़ किया। अदा जाफ़री तभी तो कहती हैं—

रास्ते क्यूँ तवील हैं इतने
ज़िन्दगी मुख़्तसर मिली है हमें

हालाँकि अदा जाफ़री ने ख़ुद न्यूयार्क, वाशिंगटन, मैरी लैण्ड, वर्जीनिया, कोलम्बिया, मेसाचुसट, केंस, कैलिफ़ोर्निया, न्यू जर्सी, वायूमिंग, मनीसोटा, केंकटेक, ओहायो, पेंसिलवेनिया, फ्लोरिडा और माण्ट, मास्को, तुर्की, इटली, रोम आदि देशों का सफ़र किया, लेकिन स्थायी निवास पाकिस्तान में ही रहा। बच्चों की यादें दिल को कचोटें ज़रूर लगातीं।

अदा जाफ़री की निगाह वैश्विक परिदृश्य पर गहरी है। हिरोशिमा, नागासाकी की तबाही हो या ईराक़ की सरहदों से उठता हुआ धुँआ हो या निहत्थे मासूम फ़िलीस्तीनियों का क़त्लेआम हो, अदा जाफ़री के क़लम ने हर जगह तल्वार का काम किया है। अदा ने वर्तमान युग के मुसलमानों की ईमानफ़रोशी, ऐशपरस्ती की दास्तान भी लिखी है तथा पाकिस्तानी हुक्मरानों की अयोग्यता और अक्षमता पर मातम भी किये। पूर्वी पाकिस्तान को

खो देने पर आँसू भी बहाये। 'मस्जिदे-अक्सा', 'सुकूते-ढाका' जैसी नज़्में मेरी बातों का सुबूत उपलब्ध कराती हैं।

अदा जाफ़री ने जहाँ नज़्में कही हैं वहीं ग़ज़लों की तादाद भी ख़ासी है। इनके यहाँ ग़ज़लों में रवायत की पासदारी मिलती है। इब्तिदाई दौर की ग़ज़लों पर उस्तादों का रंग ज़ियादा गहरा है। बक़ौल क़ाजी अब्दुल ग़फ़्फ़ार— ''फ़न्नी नुक़्तए-नज़र से, जो ज़ियादातर क़दीम नुक़्तए-नज़र है, अदा की शायरी में इक़्बाल, जिगर, फ़ानी के उस्लूबे-बयान और तर्ज़े-ज़िक्र के अलावा मंज़रनिगारी और तरन्नुम का एक पहलू काफ़ी नुमायाँ है।''[3]

ये अलग बात है कि उनकी नज़्मों और ग़ज़लों में जो तरन्नुमी फ़ज़ा बनती है वो उनका अपना हिस्सा है। उनकी शायरी में तंज़िया लहजा अपनी अलग शिनाख़्त रखता है। अदा ने अवामी ज़िन्दगी के दुख-दर्द को बड़ी ईमानदारी के साथ बरता है, जिससे वो ख़वास ही नहीं, अवाम में भी मक़्बूल रहीं। ग़ज़लों में मायूसी और उदासी के पहलू काफ़ी स्पष्ट हैं लेकिन नाउम्मीद नहीं। वो उम्मीद की मशाल जलाकर अँधेरे में उजाले की तलाश में सरगर्दां नज़र आती है। अदा जाफ़री की ग़ज़लों में बला की संजीदगी है। लहजा निहायत नर्म और पुरवक़ार है। ज़बान साफ़-सुथरी और सादा है। अल्फ़ाज़ का सटीक इस्तेमाल बड़ी चाबुकदस्ती के साथ किया गया है। तमामी ग़ज़लें और नज़्में खुली फ़ज़ा में साँस लेती हैं। अदा जाफ़री बड़ी कुहनामश्क़ और दूरअन्देश शायर हैं। वो सिन्फ़े-ग़ज़ल के रुमूज़-ओ-निकात से बख़ूबी वाक़िफ़ हैं। अदा जाफ़री की ग़ज़लों के अश्आर नक़्ल हैं—

ख़ज़ीने जाँ के लुटानेवाले, दिलों में बसने की आस लेकर
सुना है कुछ लोग ऐसे गुज़रे जो घर से आये न घर गये हैं

कोई चिराग़ तो रौशन तुम अपने घर रखना
कोई तड़प कोई मंज़र ही आँख भर रखना
तमाम शहर धुँए से अटा हुआ है अभी
अमानतों की तरह दिल में बामो-दर रखना

तारीकिए-दौराँ में तेरे ग़म के उजाले
तपती हुई राहों में तेरी याद के साये

हम भी कभी शाइस्तए-आदाबे-वफ़ा थे
जीने के हमें तौर ज़माने ने सिखाये

यही आईने-वफ़ा है अबके
दिल धड़कना भी ख़ता है अबके

है तीरगी तो उजागर नुक़ूशे-शाम करो
पलक-पलक पे चराग़ाँ का इंतज़ाम करो

गुलदान में सजा तो लिए शौक़ से 'अदा'
फूलों से बेतरह मुझे शर्मिन्दगी रही

पूछते हैं याद आयीं कौन-सी तमन्नाएँ
क्या बतायें अब उनको भूलना पड़ा क्या-क्या

क्या आस थी दिल को कि अभी तक नहीं टूटी
झोंका भी हवा का हमें मेह्माँ-सा लगे है

'अदा' जाफ़री के चार अदद शेरी मज्मूअे अब तक मंज़रे-आम पर आ चुके हैं— 'मैं साज़ ढूँढ़ती रही', 'शहरे-दर्द', 'ग़ज़ालाँ तुम तो वाक़िफ़ हो' तथा 'साज़े-सुखन बहाना है।

सन्दर्भ :

1. **जो रही सो बेख़बरी रही / अदा जाफ़री / पृ.** 93
2. **वही / पृ.** 86
3. **क़ाज़ी अब्दुल ग़फ़्फ़ार का लेख, शुमारा-ए-फ़ुनून, फरवरी-मार्च 1966, पृ. 273**

मुख़्तार क़ासिमी
ग्राम : हैदरपुर (नया पुरवा)
पोस्ट : कुटिलिया
ज़िला : प्रतापगढ़(उ. प्र.)
मो.- +919794027918

मुख़्तार साहब जनपद मुख्यालय प्रतापगढ़से लगभग तीस किमी. दूर रहते हैं। ज़रा साहित्यिक ढंग से कहा जाय तो 'सुदूर ग्रामीण क्षेत्र में निवास करते हैं'। वहीं एक छोटा-सा मद्रसा संचालित करते हैं। कचेहरी प्रतापगढ़में उर्दू-अनुवादक पद पर कुछ दिनों तक काम किया है। इन्हें शायरी और दीनी तर्बियत देवबन्द के आलमी मद्रसे में तालीम के दौरान हासिल हुई। इनके वृहद हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक ज्ञान से प्रभावित होकर मैं इन्हें 'मौलाना मुख़्तार' कहता हूँ। धर्म और शायरी में बराबर रुचि और बराबर समझ होने के कारण ही इन्होंने जिस शायर पर यहाँ लेख प्रस्तुत किया है वो अल्लामा इक़्बाल हैं।

अल्लामा इक़्बाल की शायरी के बारे में तो कहना ही क्या है। प्राय: अल्लामा इक़्बाल की नज़्मों पर ही आलोचनाएँ मिलती हैं। 'ग़ज़लकार' की सीमाओं और प्रतिबद्धताओं से वाक़िफ़ होने के कारण इन्होंने अल्लामा की ग़ज़लों पर मुख़्तसर तब्सिरा पेश किया है।

मुख़्तार क़ासिमी

अल्लामा इक़्बाल की ग़ज़लगोई

लाहौर में मुशायरा है, चोटी के शायर स्टेज पर मौजूद हैं। एक बीस-बाइस साल के नौजवान के सामने शम्अ लायी जाती है। शायरी की दुनिया में उसका चेह्रा बिल्कुल अजनबी है। लोगों ने सोचा होगा कोई चलता-फिरता नौजवान। किसी ने उसकी तरफ़ ध्यान नहीं दिया। इतने में नौजवान ने ग़ज़ल का मत्ला पढ़ा—

तुम आज़माओ हाँ को ज़बाँ से निकाल के
ये सदक़े होगी मेरे सवाले-विसाल के

लोग चौंके, ध्यानाकृष्ट हुए और सँभले। इतने में दूसरा शेर पढ़ा—

मोती समझ के शाने-करीमी ने चुन लिए
क़तरे जो थे मेरे अरक़े-इन्फ़ेआल के

सुब्हान अल्लाह, अल्हमदुलिल्लाह का शोर उठा। मिर्ज़ा अर्शद गुर्गानी जो उस वक़्त के चोटी के शायरों में से थे और शाही ख़ानदान से तअल्लुक़ रखते थे, फड़क उठे और कहा सुब्हान अल्लाह साहबज़ादे इस उम्र में ये शेर? ये नौजवान था 'मुहम्मद इक़्बाल'। लोगों को क्या पता कि ये नौजवान आस्माने-शायरी का वो आफ़ताब है जिसके सामने सारे सितारे हल्के पड़ जायेंगे और इसका इक़्बाल इस क़दर बलन्द होगा कि दुनिया-ए-उर्दू-शायरी इसे 'अल्लामा'(महाकवि) इक़्बाल कहेगी, जर्मनी से इसे डॉक्ट्रेट की डिग्री मिलेगी और ब्रिटिश हुकूमत 'सर' का ख़िताब देगी।

अपनी शायरी के शुरूआती दौर में इक़्बाल अपने कलाम पर मिर्ज़ा दाग़ देहलवी से इस्लाह लेते थे, मगर जल्दी ही उस्ताद ने ये कहकर उन्हें सनदे-शायरी अता कर दी कि कलाम में इस्लाह की गुंजाइश बहुत कम है। मिर्ज़ा दाग़ को अपने इस होनहार शार्गिद पर बजा तौर से नाज़ भी था। शेख़ अब्दुल क़ादिर बैरिस्ट्रेट लॉ ('मख़जन' पत्रिका के पूर्व सम्पादक) कुल्लियाते-इक़्बाल (इक़्बाल-समग्र) की भूमिका में लिखते हैं— ''किसे ख़बर थी कि ग़ालिब मर्हूम के बाद हिन्दुस्तान में फिर ऐसा कोई शख़्स पैदा होगा जो उर्दू-शायरी के जिस्म में नयी रूह

फूँक देगा और जिसकी बदौलत ग़ालिब के बेनज़ीर तख़य्युल और निराला अन्दाज़े-बयान फिर वुजूद में आयेंगे और अदबे-उर्दू के फ़रोग़ का बाइस होंगे, मगर ज़बाने-उर्दू की ख़ुशइक़्बाली देखिए कि ज़माने में इक़्बाल-सा शायर उसे नसीब हुआ जिसके कलाम का सिक्का हिन्दुस्तान भर के उर्दू-दाँ लोगों के दिलों में बैठा हुआ है और जिसकी शोह्रत रोम, ईरान बल्कि फ़िरंगिस्तान तक पहुँच गयी।'' आगे लिखते हैं— ''ग़ालिब और इक़्बाल में बहुत-सी बातें मुश्तरक हैं और अगर मैं तनासुख(आवागमन, अर्थात् पुनर्जन्म) क़ाइल होता तो ज़रूर कहता कि मिर्ज़ा असदुल्ला ख़ाँ ग़ालिब को उर्दू और फ़ार्सी की शायरी से इश्क़ था। इसलिए उनकी रूह को अदम में जाकर भी चैन न होने दिया और मज्बूर किया कि वो फिर किसी जसदे-ख़ाकी में जल्वाअफ़्रोज़ होकर शायरी की आबयारी करे और उसने पंजाब के एक गोशे में जिसे सियालकोट कहते हैं, दोबारा जनम लिया और मुहम्मद इक़्बाल नाम पाया।''

हिन्दुस्तान की इल्मी दुनिया में जितने नामवर शायर और अदीब थे जैसे मौलाना शिब्ली, मौलाना 'हाली' और 'अक़बर', सब से 'इक़्बाल' की मुलाक़ात और ख़तो-किताबत रही और उनके प्रभाव इक़बाल के कलाम पर पड़ते रहे। मौलाना शिब्ली ने बहुत-बहुत ख़तों में और 'अक़बर' ने न सिर्फ़ ख़तों में बल्कि बहुत-से अश्आर में 'इक़्बाल' की विशेषताओं की तरफ़दारी की है और 'इक़्बाल' ने भी अपनी नज़्मों में उन बाकमालों की जा-ब-जा तारीफ़ की है।

'इक़्बाल' के ज़माने में नवाबों और रईसों के बड़े-बड़े क़सीदे होते थे, जिनमें ज़मीनो-आसमान के क़ुलावे मिलाये जाते थे या मर्सिये होते थे, जिनमें मुर्दों के नाम का रोना रोया जाता था। सिन्फ़े-ग़ज़ल, जिसकी परिभाषा ही 'मह्बूब के साथ प्यार और मुहब्बत की बातें करना' है, उसमें गुलो-बुल्बुल और काकुलो-रुख़सार की तारीफ़ होती थी। ज़ुल्फ़ों की लम्बाई के बयान पर आये तो लम्बी उम्र गुज़र जाने के बाद भी उसके आख़िरी सिरे तक पहुँचने की ललक बाक़ी ही रही और कमर की बारीकी के बयान पर आये तो बेचारे शायर की नज़रें उसको देख पाने से आजिज़ रहीं। ख़ुर्दबीन उस ज़माने में थी ही नहीं। ऐसे माहौल में 'इक़्बाल' की शायरी परवान चढ़ी, मगर उसके असर को क़ुबूल नहीं कर सकी, बल्कि उससे बग़ावत कर दी। वो ख़ुद कहते हैं—

तक़्लीद की रविश से तो बेह्तर है ख़ुदकुशी
रस्ता भी ढूँढ़ख़िज़्र का सौदा भी छोड़ दे

वाक़ई उन्होंने उर्दू-शायरी में किसी का तक़्लीद(अनुकरण-अनुसरण) नहीं किया। अपनी राह आप तलाश की, किसी ख़िज़्र(एक पैग़म्बर जो भूले-भटकों को रास्ता दिखाते हैं) का एहसान अपने सर नहीं लिया। उन्होंने गुलो-बुल्बुल और काकुलो-रुख़सार की शायरी में अपना वक़्त और अपनी ताक़त नहीं ख़र्च की। उन्होंने बेमक़्सद की शायरी से अपने दामन को बचाकर एक नये आहंग की बुनियाद डाली। उन्होंने अपनी शायरी से ख़्वाबे-ख़रगोश में

मस्त इंसानियत को झँझोड़-झँझोड़ कर जगाने की कोशिश की। यूँ तो इक़्बाल ने ज़्यादातर नज़्में कही हैं। उर्दू में उनकी ग़ज़लों का सरमाया बहुत कम है, क्योंकि ग़ज़ल उनके ख़यालात की तर्जुमानी से क़ासिर थी, मगर जितनी भी कही है उनमें मक़्सदीयत को ध्यान में रखा है। ख़ास तौर से अपने यूरोप के दौरे और क़याम(प्रवास) के दौरान उन्होंने यूरोपियन तहज़ीब का ग़ौर से मुताला(अध्ययन) किया तो उन्हें एहसास हुआ कि ये चमक-दमक अस्ली नहीं, बल्कि नक़्ली है। जैसा कि उन्होंने कहा है—

नज़र को ख़ीरा करती है चमक तहज़ीबे-हाज़िर की
ये सच्चाई मगर झूठे-नंगों की रेज़ाकारी है

ये भी सही है कि जो चीज़ नक़्ली होती है वो पायदार नहीं होती। वो बहुत जल्दी फ़ना हो जाती है। इक़्बाल ने भी मग़्रिबी(पाश्चात्य) तहज़ीब के फ़ना हो जाने की पेशीनगोई की है—

तुम्हारी तहज़ीब ख़ुद अपने ख़ंजर से आप ख़ुदकुशी करेगी
जो शाख़े-नाज़ुक पर आशियाना बनेगा नापायदार होगा

इक़्बाल को रियाकारी(दिखावा) से सख़्त नफ़्रत थी। नामोनमूद की ज़िन्दगी की वो कुछ इस तरह मज़म्मत(आलोचना) करते हैं—

नहीं है ग़ैर अज़ नमूद कुछ भी जो मुद्दआ तेरी ज़िन्दगी का
तो यक नफ़स में जहाँ से मिटना तुझे मिसाले-शरार होगा

आदमी के सीने में एक ऐसा दर्दमन्द दिल होना चाहिए, जिसमें अपने ख़ालिक़(स्त्रष्टा) और उसकी मख़्लूक(सृष्टि) की मुहब्बत का दर्द हो, मगर सवाल है कि ये दर्दे मिलेगा कहाँ? इक़्बाल उसकी जानिब रहनुमाई करते हैं—

तमन्ना दर्दे-दिल की हो तो कर ख़िदमत फ़क़ीरों की
नहीं मिलता ये गौहर बादशाहों के ख़ज़ीनों से

मगर दुनियादार लोग इन फ़क़ीरों को हिक़ारत की निगाहों से देखते हैं, लिहाज़ा इक़्बाल उन्हें आगाह करते हुए आपसी मुहब्बत और रवादारी से ही एक अच्छे समाज की तामीर हो सकती है और बाहमी मुहब्बत के लिए इक़्बाल शिकस्तादिली की शर्त लगाते हैं—

मुहब्बत के लिए दिल ढूँढ़कोई टूटनेवाला
ये वो शै है जिसे रखते हैं नाज़ुक आबगीनों में

किसी काम में आदमी को कामयाबी के लिए जूनून की हद तक फ़िक्रमन्द होना चाहिए। बग़ैर जूनून के कामयाबी की उम्मीदें कम ही रखनी चाहिए—

तेरे दश्तो-दर में मुझको वो जुनूँ नज़र आया
कि सिखा सके जो तुझको रहो-रस्मे-शाहबाज़ी

दुनिया की गहमागहमी में इंसान की ज़िन्दगी को हंगामाख़ेज़ होना चाहिए। ज़िन्दगी तूफ़ानों से टकराने का नाम है न कि उससे घबराकर फ़रार हासिल करने का—

तेरा बहर पुरसुकूँ है, ये सुकूँ है या फ़ुसूँ है

न निहंग है न तूफ़ा, न ख़राबिए-किनारा

ये सब तो ठीक है मगर इन हक़ीक़तों को समझने के लिए दिल की आँखों की ज़रूरत है और ये आँखें इक़्बाल जैसे बेदार-मग़्ज़ लोगों को ही हासिल होती है। अगर तुम भी देखना चाहते हो तो तुम्हें भी दिल की आँखों को खोलना होगा—

नज़र आयेगा उसी को ये जहाने-दोशो-फ़र्दा
जिसे आ गयी मयस्सर मेरी शोख़िए-नज़ारा

इक़्बाल को उम्मीद है कि अगर कोशिश की जाये तो ख़्वाबे-ग़फ़लत में मस्त लोगों की आँखें खुल सकती हैं—

नउमीद न हो इनसे अय रहबरे-फ़र्ज़ाना
कमकोश तो है लेकिन बेज़ौक़ नहीं राही

हासिले-कलाम ये कि इक़्बाल ने अपनी ग़ज़लों में भी बामक़्सद शायरी की है। उन्होंने ज़िन्दगी की हक़ीक़तों से हमें आगाह किया है और हमारी आँखों पर बाँधी हुई पट्टियों को खोलने की की कोशिश की है।

●●●

ज़

ताज़ीर बस्तवी
रहमतगंज, गाँधी नगर
ज़िला : बस्ती (उ. प्र.)
मोबाइल : **07275667648**

ताज़ीर बस्तवी का मूल नाम अहसन मुहम्मद अंसारी है। अँग्रेज़ी का वरिष्ठ विद्वान् होने के साथ-साथ ताज़ीर साहब उर्दू और फ़ार्सी भाषा तथा साहित्य में अच्छी दख़ल रखते हैं। उम्र के पाँच दशक पार चुके ताज़ीर साहब एक अँग्रेजी माध्यम का विद्यालय चलाते हैं। इनका एक ग़ज़ल-संग्रह 'शरारे' नाम से प्रकाशित हो चुका है। इस लेख में इन्होंने ग़ज़ल के उन तत्त्वों की तरफ़ ख़ास तौर से इशारा किया है जो आजकल बहुत कम दिखायी दे रहे हैं।

ग़ज़ल के शेरों में एक अर्थ नहीं बल्कि अर्थ की कई तहें, कई परतें खुलती हैं और उन अर्थों में कभी समानता तो कभी-कभी असमानता भी दिखायी देती है। अर्थ की गहराइयों को सरसरी तौर पर नहीं समझा जा सकता। समकालीन बहुत-से शायरों को ये सब बातें पता भी नहीं हैं। ताज़ीर साहब ने इन्हीं सब विचारों की तरफ़ ध्यानाकृष्ट किया है। यद्यपि कि लेख अत्यन्त संक्षिप्त है, मगर ये जिस दिशा की ओर संकेत कर रहा है, वो अत्यन्त विस्तृत है।

ताज़ीर बस्तवी

ग़ज़ल से ग़ायब होती तहदारी-ओ-मानीआफ़्रीनी

यूँ तो हर फ़ुनूने-लतीफ़ा(ललित कला), वो चाहे फ़ने-तामीर(वास्तु कला) हो, मुसव्विरी(चित्र कला) हो या बुत-तराशी(मूर्ति कला), इंसान को सौन्दर्यात्मक आनन्द प्रदान करती है, लेकिन इन तमामतर फ़ुनूने-लतीफ़ा में शायरी इंसानी ज़ेह्न को मंत्रमुग्ध कर लेने की अजीबो-ग़रीब ताक़त रखती है। शायरी एक तरफ़ इंसान को सौन्दर्यात्मक आनन्द प्रदान करती है तो दूसरी तरफ़ मौजूदा समाज का आईना बनकर उसके रूबरू आती है और उसके अस्ल चेह्रे से उसे परिचित कराती है। शायरी इंसान को पुराने रास्तों से हटाकर नयी राहों पर ले जाने का काम भी अंजाम देती है।

शायरी के अन्तर्गत कई अस्नाफ़(विधाएँ) हैं, लेकिन उनके दरमियान ग़ज़ल एक महत्त्वपूर्ण हैसियत रखती है। ग़ज़ल का हर शेर अपने कूज़े में एक समन्दर बन्द किये रहता है। एक शेर के दो मिस्रों में ऐसे-ऐसे विषय छुपे रहते हैं कि अगर उनको विस्तार से लिखा जाये तो एक बड़ी किताब हो जाये।

ग़ज़ल एक ऐसी जामाज़ेब दोशीजा है जो लिबासे-ख़ुशी में हसीन लगती है और मातमी लिबास में भी दामने-दिल खींचती है। इसके साथ ही ये इतनी सख़्त जान भी है कि अक्सर ये दुर्दशाग्रस्त भी हुई। इसकी ज़ुल्फ़ें अस्त-व्यस्त भी हुईं और चेह्रे की रौनक़ भी कम हुई, लेकिन इसने अपनी सख़्तजानी के सबब अपने खोये हुए शबाब को फिर से हासिल कर लिया। मुद्दतों पुरानी ये हूर अब भी जवान लगती है; और क्यूँ न हो, ख़ुदा ने हूरों में बूढ़ी होने का माद्दा ही नहीं पैदा किया है। यही सबब है कि ग़ज़ल का शायर बूढ़ा हो के भी बूढ़ा नहीं होता। ग़ज़ल का हर शेर अपने लिए मफ़्हूम का अगाध-अनन्त समन्दर चाहता है; जब इसके कूज़ों से क़तरे बरामद होने लगते हैं तो ग़ज़ल पतन की तरफ़ प्रवृत्त होने लगती है। हादिसात-ओ-वाक़िआत, वो चाहे आन्तरिक हों या बाह्य, ग़ज़ल अपनी अलामती ज़बान(प्रतीकात्मक भाषा) ही में हमकलाम होती है। ग़ज़ल इतिहासकार का इतिहास बनकर किसी युग-विशेष के लिए अपने-आपको सीमित नहीं करती। ग़ज़ल का हर शेर तहदारी-ओ-मानीआफ़्रानी से लबरेज़ होता है। आज के दौर में बहुत-सी ग़ज़लें ऐसी भी देखने को

मिलती हैं, जिनके दामन— इशारा, किनाया, तल्मीह, मुरक़्क़ाकशी, तहदारी और मानीआफ़रीनी के लालो–गुहर से बिल्कुल ख़ाली रहते हैं। किसी हादिसे या वाक़िअे का ज़िक्र बड़े सूखे तौर पर सीधे–सीधे कर दिया जाता है, जो ग़ज़ल के हुस्न से चाँद–सितारे नोचकर उसे बेनूर बना देता है। अगर हम मिर्ज़ा ग़ालिब के युग का जायज़ा लें तो मालूम होगा कि उनके दौर ने भी बड़ी तब्दीलियाँ और तबाहियाँ देखीं। हुकूमतें बनी और बिगड़ीं, तह्ज़ीबों का क़त्ले–आम हुआ। नयी तह्ज़ीबों ने जन्म लिया, लेकिन इस उथल–पुथल के दौर में भी 'ग़ालिब' ने अपने अश्आर में हादिसों का खुले तौर पर बयान नहीं किया, बल्कि ग़ज़ल की गुदाज़ हथेलियों पर रम्ज़–ओ–किनाये(सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता) की मेंहदी लगी रहने दी। वो अपनी तमामतर दिली कैफ़ियात का बयान प्रतीकात्मक भाषा में करते रहे। उन्होंने ग़ज़ल की दुल्हन को बेबाक नहीं होने दिया, बल्कि ये शर्मायी हुई दुल्हन इशारों में बात करती रही और इशारों की ज़बान समझनेवाले पाठक इन इशारों को समझते रहे और अपना सर भी धुनते रहे। इस नये युग का हाल ये है कि अगर शायर अपने शेरों में किसी हादिसे या वाक़िये का ज़िक्र इशारों की ज़बान में करता है तो शेर पाठकों और श्रोताओं के सरों से बादलों में छुपे हवाई जहाज की तरह गुज़र जाता है। इसकी ख़ास वज्ह ये है कि आज के बेशुमार पाठक और श्रोता ऐसे हैं जिन्हें शेर पढ़ने या सुनने का शौक़ दीवानगी की हद तक होता है, लेकिन उनका अध्ययन इतना मह्दूद होता है कि उन्हें रम्ज़–ओ–किनाया की ज़बान ही समझ में नहीं आती।

किसी भी ज़बान की शायरी तभी अपनी उच्चता पर पहुँचती है जब उसके सुनने और पढ़नेवालों का ज़ेह्नी और इल्मी स्तर किसी शायर से कम न हो। ग़ज़ल की तहदारी अपने लिए ऐसे पाठक की तलाश करती है जिसके मिज़ाज में काफ़ी तहदारी मौजूद हो। अच्छी ग़ज़ल की अहमीयत अच्छा पाठक या श्रोता ही समझ पाता है। जहाँ पाठक या श्रोता का ज़ेह्नी–ओ–इल्मी स्तर निम्न होता है, वहाँ शायर सीधे–सादे और सपाट शेर कहने लगता है। इसी वज्ह से आज की ज़ियादातर ग़ज़लों से तहदारी, मानीआफ़रीनी, रम्ज़ो–किनाया और अन्य शेरी हुस्न ग़ायब होता जा रहा है। ज़ियादातर अश्आर में तेज़–तेज़ आवाज़ में बातचीत का ही तत्त्व पाया जाता है और शायर भी शेरों की अदायगी में बड़ी अदाकारी से काम लेता है। अगर ग़ज़लिया शायरी यूँ ही ज़वालपज़ीर(पतनोन्मुख) होती रही तो ग़ज़ल और नज़्म के दरमियान का फ़र्क़ ही मिट जायेगा। इसलिए ये ज़रूरी है कि ग़ज़ल को ग़ज़ल रहने देने के लिए ग़ज़ल के तमाम तक़ाज़ों को पूरा किया जाये। इसके लिए शायर को अपने स्तर से नीचे नहीं आना चाहिए और पाठक या श्रोता को अपना इल्मी स्तर किसी शायर से कम नहीं रखना चाहिए।

●●●

इम्तियाज़ुद्दीन ख़ाँ
शौक़त मंज़िल, जेल रोड मस्जिद के पीछे,
प्रतापगढ़, फोन : 05342220443

इम्तियाज़ साहब ज़िला प्रतापगढ़के वरिष्ठतम साहित्यकारों में से एक हैं। 82-83 वर्ष की उम्र में भी आप ज़िला मुख्यालय पर होनेवाली विभिन्न नशिस्तों में अपनी पुरवक़ार उपस्थिति से साहित्य के फ़राइज़ अंजाम दे रहे हैं। इस उम्र में भी जिस दिन मूड में रहे कोई रोमैण्टिक ग़ज़ल कह डालते हैं। किसी के मुँह से कोई अच्छा शेर सुनकर हल्की मुस्कुराहट के साथ दाद भी देते हैं। उर्दू, अरबी, फार्सी, अँग्रेज़ी की सैकड़ों दुर्लभ किताबें आपकी व्यक्तिगत लाइब्रेरी में हैं। इन्होंनें कई किताबों का हिन्दी से उर्दू और उर्दू से हिन्दी में अनुवाद भी किया है। रामचरितमानस के कुछ अंश का उर्दू में अनुवाद किया है। 'भर्तृहरि शतक' का उर्दू अनुवाद उ. प्र. उर्दू अकादमी ने प्रकाशित भी किया है।

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपकी नज़्में और ग़ज़लें प्रकाशित होती रहती हैं। आपने 'ग़ज़लकार' के लिए अपने कदीम कुतुबख़ाने में रखे कुल्लियाते 'नूह नारवी' से ये नायाब लेख निकाला। हम इनके तहे-दिल से शुक्रगुज़ार हैं और इनकी लम्बी उम्र की कामना करते हैं। इस लेख को लिप्यन्तरित किया मुख़्तार क़ासिमी ने, हम उनके भी शुक्रगुज़ार हैं।

'रिसाला-ए-रहनुमा-ए-तालीम' (लाहौर) में बहुत दिनों तक हज़रत 'नूह' नारवी की इस्लाहों के नमूने, जनाब आबिद मसीह 'आबिद मुरादाबादी' (टीचर, स्कूल सरधना ज़िला- मेरठ) के जमा किये हुए, माहवार छपते रहे। हज़रत 'नूह' एक ज़माने तक 'दाग़ देहल्वी' की ख़िद्मत में रहकर उनकी इस्लाह का तरीक़ा देख चुके थे। 'एजाज़े-नूह' (दीवाने-सोएम यानी भाग- तीन) से कुछ नमूने यहाँ शुक्रिया के साथ पेश किये जा रहे हैं। 'नूह' साहब के चन्द शागिर्दों की चन्द इस्लाहों को मुलाहिज़ा फ़र्मायें-

इम्तियाज़ुद्दीन ख़ाँ

'नूह' नारवी और इस्लाहे-शेर

१. मुर्तज़ा हुसैन 'दुआ', बाशिन्दा- उबाई, ज़िला बुलन्दशहर :

शेर– वो मेरा हाल सुनके ये बोले
कोई क़िस्सा है या कहानी है
इस्लाह– वो मेरा हाल सुनके पूछते हैं
वाक़िआ है कि ये कहानी है

शेर– ख़ूबतर क्यों न हो वो यूसुफ़ से
ये मुसव्विर का नक़्शे–सानी है
इस्लाह– ख़ूबतर क्यों न हो वो युसुफ़ से
कि मुसव्विर का नक़्शे–सानी है

शेर– कौन–सी है हराम ऐ वाइज़
ये नयी मय है या पुरानी है
इस्लाह– किसको समझूँ हराम ऐ वाइज़
ये नयी मय है या पुरानी है

शेर– क़समें न आप खाइए मुझको यक़ीन आ गया
आप कहाँ, अदू कहाँ वाक़ई इत्तिहाम है
इस्लाह– क़समें न मुझसे खाइए, मुझको यक़ीन आ गया
आप कहाँ, अदू कहाँ, वाक़ई इत्तिहाम है

२. क़ाज़ी रियाज़ुद्दीन अहमद 'रियाज़', ज़िला- बुलन्दशहर :

शेर- पाऊँ जो मेह्‌रबाँ तेरे तीरे-नज़र को मैं
कर दूँ निसार जान, तसद्दुक़ जिगर को मैं
इस्लाह- पाऊँ जो मेह्‌रबाँ तेरे तीरे-नज़र को मैं
कर दूँ निसार दिल को, तसद्दुक़ जिगर को मैं

शेर- न किया तुमने मेरे क़त्ल का अरमाँ पूरा
क़ौल अगर दे तो करे भी उसे इंसाँ पूरा
इस्लाह- कब हुआ तुमसे मेरे क़त्ल का अरमाँ पूरा
क़ौल अगर दे तो करे भी उसे इंसाँ पूरा

शेर- सर बकफ़ मैं हूँ इधर, वो हैं उधर तेग़ बकफ़
अब है मौजूद मेरे क़त्ल का अरमाँ पूरा
इस्लाह- सर बकफ़ मैं भी इधर, तेग़ बकफ़ वो भी उधर
अब है मौजूद मेरे क़त्ल का सामाँ पूरा

शेर- वक़्ते-आख़िर कश्मकश में आशिक़े-बीमार था
मौत थी पेशे-नज़र दिल में ख़याले-यार था
इस्लाह- वक़्ते-आख़िर कश्मकश में आशिक़े-बीमार था
मौत थी पेशे-नज़र, दिल को ख़याले-यार था

शेर- बर्क़ चमकी किस घड़ी सुर्मा हुआ कब कोहेतूर
उसको इसकी क्या ख़बर जो मह्‌वे-दीदे-यार था
इस्लाह- बर्क़ चमकी किस घड़ी सुर्मा हुआ कब जल के तूर
उसको इसकी क्या ख़बर जो मह्‌वे-दीदे-यार था

शेर- लुत्फ़ उसने क्या उठाया दुनिया में ज़िन्दगी का
जिसने मज़ा न चक्खा कुछ इश्क़ो-आशिक़ी का
इस्लाह- लुत्फ़ उसने क्या उठाया दुनिया में ज़िन्दगी का
जिसने मज़ा न चक्खा दिल दे के आशिक़ी का

शेर- रह गये हैरान किसको देखकर सब अहले-हश्र
आ गया ये कौन महशर में इलाही बेनक़ाब

इस्लाह– रह गये हैरान किसको देखकर सब दादख़्वाह
आ गया ये कौन महशर में इलाही बेनक़ाब

शेर– मेरा दिल छाँटा है ज़ालिम ने जफ़ाओं के लिए
वाह रे हुस्ने–नज़र, अल्ला रे हुस्ने–इंतिख़ाब
इस्लाह– उसने छाँटा मेरा दिल, ज़ुल्मो–सितम के वास्ते
वाह रे हुस्ने–नज़र, अल्ला रे हुस्ने–इंतिख़ाब

शेर– ढाता है रात–दिन ये सितम मेरी जान पर
या रब फ़लक ही टूट पड़े आस्मान पर
इस्लाह– ढाता है रात–दिन ये सितम मेरी जान पर
टूटा न आस्मान कभी आस्मान पर

शेर– उल्फ़त इसे फिर सूझी इक दुश्मने–ईमाँ की
ये लीजिए फिर आयी शामत दिले–नादाँ की
इस्लाह– उल्फ़त हुई फिर उसको इक दुश्मने–ईमाँ की
फिर आयी नये सर से शामत दिले–नादाँ की

३. वकील अहमद 'हाफ़िज़ ग़ाज़ीपुरी :

शेर– हिजाबाते–नज़र को मुश्किलों से जब उठा पाया
फ़रेबे–मुद्दआ देखा, फ़रेबे–मुद्दआ पाया
इस्लाह– हिजाबाते–नज़र को मुश्किलों से जब उठा पाया
फ़रेबे–मुद्दआ देखा, क़रीबे–मुद्दआ पाया

शेर– तेरे जल्वों में गुम रहकर यही तेरा पता पाया
कभी देखा हुआ देखा, कभी देखा हुआ पाया
इस्लाह– तेरे जल्वों में गुम रहकर यही तेरा पता पाया,
कभी देखा हुआ देखा, कभी पाया हुआ पाया

शेर– तसल्लियों से है ऐसी नफ़्रत कि ग़फ़्लतों पर नहीं है
जो भर दे दर्दे–हयात दिल में, नसीब वो चारागर नहीं
इस्लाह– हमें है दरकार बेक़रारी तसल्लियों पर नज़र नहीं है
जो भर दे दर्दे–हयात दिल में, नसीब वो चारागर नहीं

शेर– दुआएँ ख़ामोश हो गयी हैं, लबों पे आहे–सहर नहीं है
उन्हें ख़बर भी मेरी हुई कब, मुझे जब अपनी ख़बर नहीं है
इस्लाह– दुआ–ए–शब पर नज़र नहीं है, लबों पे आहे–सहर नहीं है
उन्हें ख़बर भी मेरी हुई कब, मुझे जब अपनी ख़बर नहीं

❖❖❖

शेर– शबाब की निक्हतों ने खींचा, नसीम आयी हिजाब टूटा
गुलों में आकर वो बस गये थे कि पर्दा है पर्दादर नहीं है
इस्लाह– शबाब की निक्हतों ने खींचा नसीम आयी हिजाब टूटा
गुलों में वो इसलिए छुपे थे कि पर्दा है पर्दादर नहीं है

❖❖❖

शेर– गुदाज़े–इश्क़ से ही ज़िन्दगी बेदार होती है
इसे वुस्अत जो मिल जाये मुहीते–हुस्ने–आलम हो
इस्लाह– गुदाज़े–इश्क़ से ही ज़िन्दगी महदूद होती है
इसे वुस्अत जो मिल जाये मुहीते–हुस्ने–आलम हो

❖❖❖

शेर– शुआए–इश्क़ ख़ुद ही जज़्ब कर लेगी तुझे बुल्बुल
सुबुकरूही अगर तेरी गुलों में मिस्ले–शब्नम हो
इस्लाह– शुआए–इश्क़ ख़ुद ही जज़्ब कर ले तुझको ऐ बुल्बुल
सुबुकरूही अगर तेरी गुलों में मिस्ले–शबनम हो

४. मुंशी सुखदेवप्रसाद 'बिस्मिल' इलाहाबादी :

शेर– हुआ जीना भी अब मुश्किल हमारा
न वो हम हैं न अब वो दिल हमारा
इस्लाह– हुआ जीना बहुत मुश्किल हमारा
न वो हम हैं न अब वो दिल हमारा

❖❖❖

शेर– नहीं दिल अब किसी क़ाबिल हमारा
सहे कब तक मुसीबत दिल हमारा
इस्लाह– नहीं अब दिल किसी क़ाबिल हमारा
कभी था सबके क़ाबिल दिल हमारा

❖❖❖

शेर– न समझो दिल्लगी कहता हूँ दिल से
तुम्हारे हाथ में है दिल हमारा

इस्लाह– वफ़ा–ओ–इश्क़ से क्या हाथ उठायें
तुम्हारे हाथ में है दिल हमारा

शेर– बतायें क्या, बस इतना जानते हैं
किसी ने ले लिया है दिल हमारा
इस्लाह– बतायें क्या बस इतना जानते हैं
किसी ने हमसे छीना दिल हमारा

शेर– कोई पूछे हसीनों की नज़र से
मिला मिट्टी में क्यूँकर दिल हमारा
इस्लाह– कोई पूछे तेरी तिर्छी नज़र से
मिला मिट्टी में क्यूँकर दिल हमारा

शेर– तुम्हें मालूम है दिल की हक़ीक़त
जहाँ तुम हो, वहीं है दिल हमारा
इस्लाह– कहाँ है दिल ये तुम क्या पूछते हो
जहाँ तुम हो वहीं है दिल हमारा

शेर– देखकर उनको हो गये बेहोश
क्या करें बात ये भी होश नहीं
इस्लाह– देखकर उनको मैं हुआ बेहोश
कब गया होश ये भी होश नहीं

शेर– नग़मए–सरमदी सुनाये कौन
कोई अब ऐसा सरफ़रोश नहीं
इस्लाह– नग़मए–सरमदी सुनाए कौन
कोई सरमद–सा सरफ़रोश नहीं

शेर– ज़िन्दगी क्या है और क्या है मौत
रह के दुनिया में इसका होश नहीं
इस्लाह– ज़िन्दगी क्या है और क्या है मौत
जाँनिसारों को इसका होश नहीं

५. मुहम्मद उमर ख़ाँ 'उमर गोरखपुरी' :

शेर– दिल में उतरा तो उतरकर नख़्ले–उल्फ़त बन गया
क्या सिखाकर आपने भेजा था अपने तीर को
इस्लाह– दिल में उतरा और शाख़े–नख़्ले–उल्फ़त बन गया
क्या सिखाकर आपने भेजा था अपने तीर को

६. नवाब मीर यावर अली ख़ाँ 'यावर' (अमरावती, महाराष्ट्र) :

शेर– हर घड़ी है रंजो–ग़म, हर वक़्त हैरानी मुझे
चैन ही लेने नहीं देती परीशानी मुझे
इस्लाह– हर घड़ी ग़म, हर घड़ी ईज़ाए–रूहानी मुझे
चैन ही लेने नहीं देती परीशानी मुझे

७. औलाद हुसैन 'तौबा' इलाहाबादी :

शेर– वो उठकर मेरे पहलू से किसी का अपने घर जाना
वो मेरा एक ठण्डी साँस लेना और मर जाना
इस्लाह– वो उठकर सुब्ह दम उनका यहाँ से अपने घर जाना
वो मेरा एक ठण्डी साँस लेना और मर जाना

शेर– जो आये हो तो ठहरो, कोई लह्ज़ा कुछ हँसो–बोलो
ये क्या आने में आना है, इधर आना उधर जाना
इस्लाह– जो आये हो तो ठहरो, कोई लह्ज़ा कुछ हँसो–बोलो
ये क्या आना, ये क्या जाना, इधर आना, उधर जाना

शेर– वो हवा दे रहे हैं दामन से
काम आयी है मेरी बेहोशी
इस्लाह– वो हवा दे रहे हैं दामन से
मेरे काम आयी मेरी बेहोशी

७. डॉ. मोतीलाल कक्कड़ इलाहाबादी :

शेर– ये दुआ करते हैं सब जी से गुज़रनेवाले
वो सलामत रहें, मरते रहें मरनेवाले
इस्लाह– ये दुआ माँगते हैं, जी से गुज़रनेवाले
वो सलामत रहें, मरते रहें मरनेवाले

८. शौक़ सन्देलवी :

शेर– टुकड़े दिल करता हुआ झोंका नसीमे–सुब्ह का
बुल्बुले–नालाँ के हक़ में तेज़ ख़ंजर हो गया
इस्लाह– जो गिरा पत्ता ख़िज़ाँ में शाख़े–गुल से टूटकर
बुल्बुले–नालाँ के हक़ में तेज़ ख़ंजर हो गया

शेर– साथ परवाने के जल–जल के दिले–शम्अनसीब
दाख़िले–मिल्लते–अर्बाबे–वफ़ा हो जाना
इस्लाह– साथ परवानों के जल–बुझ के तेरा शम्अए–सहर
दाख़िले–मिल्लते–अर्बाबे–वफ़ा हो जाना

शेर– दिल से होती है तो ख़ाली भी कहीं जाती है
तुम ये चाहो कि मेरे क़ल्ब पे तासीर न हो
इस्लाह– मैं ये चाहूँ कि फ़ुग़ाँ निकले तो दिल ही में रहे
तुम ये चाहो कि मेरे क़ल्ब पे तासीर न हो

शेर– दिल मेरा मुझको फेरता जा
ज़ालिम तेरे काम का नहीं है
इस्लाह– नाकामे–अज़ल है दिल हमारा
ज़ालिम तेरे काम का नहीं है

शेर– ऐसी क्या ख़ुशख़बरी लाये हवा के झोंके
दिल मसर्रत से उछलने लगा दीवानों का
इस्लाह– ऐसी क्या ख़ुशख़बरी लायी बयाबाँ की हवा,
दिल मसर्रत से उछलने लगा दीवानों का

लिप्यन्तरण : मुख़्तार क़ासिमी

इमरान प्रतापगढ़ी
imrankhan.khan211@gmail.com
mobile :09415627699

मुशायरों की दुनिया में पिछले पाँच-छः साल में जो परिवर्तन सबसे ज़्यादा चौंकानेवाला देखने को मिला वो इमरान हैं। इधर बीच हिन्दुस्तान के जितने बड़े मुशायरे हो रहे हैं, इमरान अक्सर उनमें देखे जा सकते हैं। इमरान का इस पत्रिका के प्रकाशन में तन-मन-धन से सहयोग रहा। मुशायरे ग़ज़लों के प्रसार का अत्यन्त सशक्त माध्यम हैं, क्योंकि अपनी कला के साथ-साथ शायर अपनी विचारधारा और संवेदनाओं को सीधे तौर पर लोगों तक पहुँचा सकता है।

यहाँ इमरान ने सुप्रसिद्ध फ़िल्मी गीतकार जावेद अख़्तर के ग़ज़ल-संग्रह 'लावा' की समीक्षा प्रस्तुत की है। यद्यपि कि अब जबकि ये पत्रिका प्रकाशित होकर आप तक पहुँच रही है तब तक 'लावा' के प्रकाशन को एक अर्सा निकल चुका है, लेकिन इस समीक्षा को लिखा पहले ही गया था। जावेद अख़्तर पटकथा-लेखक, संवाद-लेखक के साथ वैचारिक प्रतिबद्धता रखनेवाले व्यक्ति हैं। इनके बारे में तथा 'लावा' के बारे में इमरान ने यहाँ बढ़िया चर्चा की है।

इमरान प्रतापगढ़ी

हैं जिसकी तरफ़, वो भी तरफ़दार नहीं है *

मेरे ख़याल में जावेद अख़्तर मूलत: गद्य के आदमी हैं। ये और बात कि उनके लिखे बहुत से फ़िल्मी गीत और ग़ज़लें अत्यन्त लोकप्रिय हैं, लेकिन इनके द्वारा लिखी गयी कथाओं-पटकथाओं और संवादों के कारण सुपरहिट हुई फ़िल्मों की संख्या भी कम नहीं है। यही नहीं, जावेद अख़्तर एक अच्छे वक्ता भी हैं। तर्कपूर्ण ढंग से मौलिक चिन्तन पेश करना उनकी बातचीत का विशेष पक्ष है। जहाँ तक ग़ज़लों का सवाल है जावेद अख़्तर की फ़िल्मी ग़ज़लों और किताबों में प्रकाशित ग़ज़लों में काफ़ी अन्तर है।

जावेद अख़्तर को व्यक्तिगत तौर पर शायरी के क्षेत्र की तर्बियत परम्परा से प्राप्त हुई है। जहाँ मजाज़ लखनवी, जाँ निसार अख़्तर और कैफ़ी आज़मी की निकटता ने इनके व्यक्तित्व को मज़्बूत किया है वहीं कई रंग के आन्तरिक विभाजन किये हैं। 'तरक़्क़ीपसन्द उर्दू तह्‌रीक' और परम्परागत तत्त्वों के साथ-साथ जावेद अख़्तर की शायरी में जदीद शायरी के तत्त्वों का मिश्रण भी कम नहीं है। सिनेमा जैसी ग्लैमरस दुनिया में रहने के बावजूद इनकी शायरी में महानगरीय ज़िन्दगी की विसंगतियों का एहसास कम नहीं हुआ है। नयी पीढ़ी की सोच और उसकी मानसिकता को बयान करते हुए जावेद अख़्तर प्रतीकों का भी इस्तेमाल करते हैं- 'बुलन्दी पर इन्हें मिट्‌टी की ख़ुश्बू तक नहीं आती, ये वो शाख़ें हैं जिनको अब शजर अच्छा नहीं लगता' (पृ०- 14)। अक्सर लोग जिस मिट्‌टी से उगे हैं, उसे ही भूल जाते हैं। जावेद अख़्तर की शायरी न सिर्फ़ अपनी जड़ों को याद रखने का मश्‌विरा देती है, बल्कि इस बाज़ारवादी संस्कृति में कुछ और बेह्‌तर सम्भावनाओं की तलाश का हौसला देती है- 'अक़्ल ये कहती है दुनिया मिलती है बाज़ार में, दिल मगर ये कहता है कुछ और बेह्‌तर देखिए' (पृ०- 22)।

ऐसा लगता है कि 'लावा' में उन ग़ज़लों और नज़्मों का संग्रह किया गया है जिन्हें जावेद अख़्तर ने बेहद व्यक्तिगत क्षणों में सृजित किया है। स्थितियों-परिस्थितियों के मुताबिक़ कुछ लिखने या दर्शकों-श्रोताओं को सामने रखकर कुछ लिखने जैसी बाध्यता से जब जावेद अख़्तर के भीतर का शायर कुछ मोह्‌लत पाता है, या तन्हाई की सोह्‌बत पाता है,

---

***अब अपना कोई दोस्त कोई यार नहीं है**
हैं जिसकी तरफ़ वो भी तरफ़दार नहीं है ('**लावा**', **पृ.**- 60)

तो जो कुछ सोचता है वो 'लावा' में संकलित है।

वस्तुत: हम उन्हीं ग़ज़लों को बेहतर मानते हैं, जिनमें कहीं-न-कहीं से ग़ज़ल की परम्परा का विकास दिखायी दे, चाहे वो भाव के स्तर पर हो, चाहे कलात्मक स्तरों पर हो। 'दो इक बातें' शीर्षक से 'लावा' की भूमिका में जावेद अख़्तर ने लिखा है- " 'लावा' मेरी ग़ज़लों और नज़्मों का दूसरा संग्रह है। पहला संग्रह 'तरकश' 1995 में प्रकाशित हुआ था, इसलिए 'देर आयद दुरुस्त आयद' का पचास फ़ीसदी अर्थात् 'देर आयद' तो यक़ीनन् ठीक है, रहा 'दुरुस्त आयद' तो इसका फ़ैसला तो आपको करना है।"(पृ. 07) इसके सम्बन्ध में जहाँ तक मेरा ख़याल है, 'लावा' 'तरकश' से कमतर है। जिस तरह की ग़ज़लें 'तरकश' में थीं, और उस संग्रह का जो पूरा स्वरूप था, वो बहुत उम्दा था। 'लावा' जल्दबाज़ी में 'तैयार' किया गया संग्रह लगता है। बहुत-से शेर जो 'तरकश' में थे, वे 'लावा' में 'रिपीट' किये गये हैं, जैसे 'तरकश' के पृ. 68 का शेर— 'सबका ख़ुशी से फ़ासला एक क़दम है, हर घर में बस एक ही कमरा कम है', 'लावा' के भी पृ. 57 पर है। 'तुम्हें भी याद नहीं और मैं भी भूल गया, वो लम्हा कितना हसीं था मगर फ़ुज़ूल गया' । ('तरकश' पृ. 116 और 'लावा' पृ. 65), 'कम-से-कम उसको देख लेते थे, अब के सैलाब में वो पुल भी गया'। ('तरकश' पृ. 88 और 'लावा' पृ. 94)। इसी प्रकार 'तरकश' के पृ. 47 पर दिया गया शेर 'हमारे शौक़ की ये इन्तहा थी, क़दम रक्खा कि मंज़िल रास्ता थी', 'लावा' के पृ. 114 पर दिया गया है। इन सबसे ये पता चलता है कि मौलिक या नवीन सामग्री की कमी होने के बावजूद 'लावा' का प्रकाशन किया गया। वास्तव में मुशायरों में तो एक ही ग़ज़ल या शेर बार-बार पढ़े जा सकते हैं, लेकिन प्रकाशित सामग्री को बार-बार अपनी ही किताब में प्रकाशित कराना ज़रा अटपटा-सा लगता है।

'लावा' में कैफ़ी आज़मी पर एक अच्छी नज़्म है— 'अजीब आदमी था वो'। इस नज़्म में कैफ़ी साहब के साहित्यिक व्यक्तित्व और उनकी व्यक्तिगत बारीकियों को जावेद अख़्तर ने बहुत ख़ूबसूरत अंदाज़ में बयान किया है। एक नज़्म शबाना आज़मी पर है और वो भी दिलकश है— 'शबाना'। शबाना आज़मी और कैफ़ी आज़मी से जावेद अख़्तर के सम्बन्धों के कारण ही ये नज़्में महत्त्वपूर्ण नहीं हो जातीं, बल्कि ये नज़्में इसलिए भी अहम हैं कि दोनों ही शख़्सीयतें अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण हैं। ये नज़्में इस ग़ज़ल-संग्रह की विशेष उपलब्धि हैं।

'लावा' में जो शेर हैं उनमें बहुत-से ऐसे हैं, जिनको पढ़ने पर ऐसा लगता है कि वो किसी क़िस्सा, किसी कहानी का हिस्सा हों, और वो कहानी मात्र शायर के ही ज़ेहन में बन्द है। ऐसा लगता है कई शेर अपना विशेष सन्दर्भ रखते हैं और अपना विशेष प्रसंग भी रखते हैं, जिनको समझने-परखने के लिए पूरे पसमंज़र की तह में जाना होगा। यहाँ विशेष रूप से 'लावा' गजल-संग्रह की

ही समीक्षा का अवसर है, न कि जावेद अख़्तर की सम्पूर्ण शायरी के मूल्यांकन का, इसलिए बहुत विस्तार से कुछ कहने की गुंजाइश नहीं है। कुछ अश्आर विशेष रूप से जिद्दततराज़ी का नमूना हैं और जदीद शायरी की बेह्तरीन मिसाल पेश करते हैं, जैसे– 'कुछ बिछड़ने के भी तरीक़े हैं, ख़ैर, जाने दो जो गया जैसे', या 'आज वो भी बिछड़ गया हमसे, चलिए ये क़िस्सा भी तमाम हुआ' ।

चलते–चलते 'लावा' में संकलित उस नज़्म का ज़िक्र किये बिना 'लावा' का ज़िक्र अधूरा ही रहेगा, जो जावेद अख़्तर ने 15 अगस्त 2000 को हिन्दुस्तानी पार्लियामेंट में सुनायी थी; शीर्षक है 'पन्द्रह अगस्त'। ये नज़्म आज़ादी के बाद की स्थितियों की सकारात्मक व्याख्या करती है। थोड़ा–बहुत इशारों में ज़रूर कहा गया है कि– 'मगर ये याद भी रखना बहुत ज़रूरी है, कि दास्तान हमारी अभी अधूरी है', लेकिन इस नज़्म को पढ़ने पर ये एहसास ज़ुरूर होता है कि जो बौद्धिक और विद्रोही चेतना जावेद अख़्तर के वैचारिक भाषणों और लेखों इत्यादि में मिलती है अथवा अन्य नज़्मों तथा ग़ज़लों में भी मिलती है, वो यहाँ पर बिल्कुल नहीं है। ऐसा शायद इस वज्ह से भी हुआ हो कि इस नज़्म को ऐसे लोगों के बीच में पढ़ना था कि शायर पर 'पॉज़िटिव एप्रोच' की ही बातें करने का दबाव भी रहा हो।

निष्कर्षत: 'लावा' ग़ज़ल–संग्रह जावेद अख़्तर की सम्पूर्ण शायरी को समझने का एक अहम ज़रिआ है। अच्छा हो कि जावेद अख़्तर ने फ़िल्मों के लिए जो ग़ज़लें लिखी हैं, उनका भी कोई संकलन सामने आये।

पुस्तक– लावा
शायर– जावेद अख़्तर
पृष्ठ संख्या– 148
मूल्य– 250
प्रकाशक– राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

हस्रत मोहनी
(सन् 1875-1951 ई.)

उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ से जनपद कन्नौज के लिए निकलिए और बिना कानपुर हुए सीधा जाना चाहिए तो उसी रास्ते पर लगभग पचीस किमी. पर मोहान पड़ेगा। मोहान का ज़िला उन्नाव लगता है। 'उर्दू-अदब की तारीख़' में अज़ीमुलहक़ जुन्नैदी ने कुछ इस तरह हस्रत साहब के बारे में लिखा है– ''फ़ज़्लुलहसन, हस्रत मोहानी लख़ल्लुस, ज़िला उन्नाव के क़स्बा मोहान में 1878 ई.में पैदा हुए। 1951 ई.में लखनऊ में इन्तिक़ाल हुआ। अलीगढ़कॉलेज से बी.ए.किया। 'तस्लीम लखनवी' के शागिर्द थे। अगरचा इनके अश्आर की ज़बान पर लखनऊ का असर है, लेकिन वो ख़ुद इसका एतराफ़ करते हैं कि उन्होंने 'मोमिन' और 'नसीम' का इत्तिबाअ किया है। 'हस्रत' के कलाम में तग़ज़्ज़ल का मेयार निहायत आला है। सही जज़्बात और वारदात के बयान में जोशो-शौक़ भी है और लताफ़त और जिद्त भी।''[1]

हालाँकि उर्दू-साहित्य के तीन अलग-अलग इतिहासों में हस्रत का जन्म-वर्ष अलग-अलग, जैसे 1875[2], 1878[3] और 1881[4] ईस्वी, मिलता है, लेकिन मृत्यु-वर्ष 1951 ई. ही इन सभी में है। हस्रत मोहानी आज़ादी की लड़ाई में इतने सक्रिय थे कि कई बार जेल गये। क़ैदे-बामशक़्क़त के दौरान मश्क़े-सुख़न भी जारी रहा।

इन्होंने अलीगढ़में एक प्रेस ख़रीदकर 'उर्दू-ए-मुअल्ला' नाम का मासिक पत्र भी निकाला। कई खण्डों में उर्दू के कई शायरों के कलाम को संकलित-प्रकाशित किया। इनके द्वारा 'ग़ालिब' के कलाम की व्याख्या 'शरहे-दीवाने-ग़ालिब', ग़ालिब-समीक्षा के क्रम की बड़ी उपलब्धि है। फ़िल्म 'निकाह' की ग़ज़ल *'चुपके-चुपके रात-दिन आँसू बहाना याद है'* ने सिनेमा-जगत में ग़ज़ल तथा ग़ज़ल-गायिकी-जगत में ग़ुलाम अली को स्थापित करने में मदद की। आपको कुछ लोग मौलाना हस्रत मोहानी भी कहते हैं।

आपने शेरो-शायरी के छन्दशास्त्र और काव्यशास्त्र के निर्धारण हेतु 'मआइबे-सुख़न' अर्थात् साहित्य या काव्य के दोष, नाम से एक किताब भी लिखी।

सन्दर्भ :

1. उर्दू-अदब की तारीख़/ अज़ीमुलहक़ जुन्नैदी/ पृ. 143-144
2. वृहद उर्दू-साहित्य कोश/कमल नसीम/पृ. 517
3. उर्दू-अदब की तारीख/ अज़ीमुलहक जुन्नैदी/पृ. 143
4. तारीख़े-अदबे-उर्दू/नूरुलहसन नक़्वी/पृ. 175

हस्रत मोहानी

आप ने क़द्र कुछ न की दिल की

आप ने क़द्र कुछ न की दिल की
उड़ गयी मुफ़्त में हँसी दिल की

ख़ूँ है अज़ बसकि आशिक़ी दिल की
ग़म से वाबस्ता है ख़ुशी दिल की

मिल चुकी हम को उन से दादे-वफ़ा
जो नहीं जानते लगी दिल की

चैन से मह्वे-ख़्वाबे-नाज़ में वो
बेकली हम ने देख ली दिल की

उनसे कुछ तो मिला वो ग़म ही सही
आबरू कुछ तो रह गयी दिल की

मर मिटे हम न हो सकी पूरी
आर्ज़ू तुम से एक भी दिल की

वो जो बिगड़े रक़ीब से 'हस्रत'
और भी बात बन गयी दिल की

× × × × × ×

रौशन जमाले-यार से है अंजुमन तमाम
दहका हुआ है आतिशे-गुल से चमन तमाम

हैरत ग़ुरूरे-हुस्न से, शोख़ी से इज़्तिराब
दिल ने भी तेरे सीख लिए हैं चलन तमाम

अल्ला रे जिस्मे-यार की ख़ूबी कि ख़ुद-ब-ख़ुद
रंगीनियों में डूब गया पैरहन तमाम

उस नाज़नीं ने जब से किया है वहाँ क़याम
गुलज़ार बन गयी है ज़मीने-दकन तमाम

अच्छा है अहले-ज़ौर किये जायँ सख़्तियाँ
फैलेगी यूँ ही शोरिशे-हुब्बे-वतन तमाम

शीरीनिए-'नसीम' है सोज़ो-गुदाज़े-'मीर'
'हस्रत' तेरे सुख़न पे है लुत्फ़े-सुख़न तमाम

× × × × × ×

रंग सोते में चमकता है तरहतारी का
तुर्फ़ा आलम है तेरे हुस्न की बेदारी का

मायए-इश्रते-बेहद है ग़मे-क़ैदे-वफ़ा
मैं शनासा भी नहीं रंजे-गिरिफ़्तारी का

जौरे-पैहम न करे शाने-तवज्जो पैदा
देख बदनाम न हो नाम सितमगारी का

कट गया क़ैद में माहे-रमज़ाँ भी 'हस्रत'
गरचे सामान सहर का था न इफ़्तारी का

× × × × × ×

वस्ल की बनती है इन बातों से तद्‌बीरें कहीं
आर्ज़ूओं से फिरा करती हैं तक़्दीरें कहीं

बेज़बानी तर्जुमाने-शौक़े-बेहद हो तो हो
वर्ना पेशे-यार काम आती हैं तक़्रीरें कहीं

मिट रही हैं दिल से यादें रोज़गारे-ऐश की
अब नज़र काहे को आयेंगी ये तस्वीरें कहीं

इल्तिफ़ाते-यार था इक ख़्वाबे-आग़ाज़े-वफ़ा
सच हुआ करती हैं इन ख़्वाबों की ताबीरें कहीं

तेरी बेसब्री है 'हस्रत' ख़ामकारी की दलील
गिरियए-उश्शाक़ में होती हैं तासीरें कहीं

× × × × × ×

तोड़कर अहदे-करम नाआश्ना हो जाइए
बन्दापरवर जाइए अच्छा ख़फ़ा हो जाइए

जी में आता है कि उस शोख़े-तग़ाफ़ुल-केश से
अब न मिलिए फिर कभी और बेवफ़ा हो जाइए

हाय रे बेइख़्तियारी ये तो सब कुछ हो मगर
उस सरापा नाज़ से क्यूँकर ख़फ़ा हो जाइए

कश्मकशहाए-आलम से अब ये 'हस्रत' जी में है
छुट के इन झगड़ों से मेह्‌माने-क़ज़ा हो जाइए

× × × × × ×

हुस्ने-बेपर्वा को ख़ुदबीनो-ख़ुदारा कर दिया
क्या किया मैंने कि इज़्हारे-तमन्ना कर दिया

बढ़गयीं तुमसे तो मिलकर और भी बेताबियाँ
हम ये समझे थे कि अब दिल को शिकेबा कर दिया

पढ़के तेरा ख़त मिरे दिल की अजब हालत हुई
इज़्तिराबे-शौक़ ने इक हश्र बरपा कर दिया

इश्क़ से तेरे बढ़े क्या-क्या दिलों के मर्तबे
मेह्र ज़र्रों को किया, क़तरों को दरिया कर दिया

क्यूँ न हों तेरी मुहब्बत से मुनव्वर जानो-दिल
शम्अ जब रौशन हुई घर में उजाला कर दिया

तेरी महफ़िल से उठाता ग़ैर मुझको क्या मजाल
देखता था मैं कि तूने भी इशारा कर दिया

सब ग़लत कहते थे लुत्फ़े-यार को वज्हे-सुकूँ
दर्दे-दिल उसने तो हस्रत और दूना कर दिया

× × × × × ×

निगाहे-यार जिसे आश्नाए-राज़ करे
वो अपनी ख़ूबिए-क़िस्मत पे क्यूँ न नाज़ करे

दिलों को फ़िक्रे-दोआलम से कर दिया आज़ाद
तेरे जुनूँ का ख़ुदा सिल्सिला दराज़ करे

ख़िरद का नाम जुनूँ पड़ गया जुनूँ का ख़िरद
जो चाहे आपका हुस्ने-करिश्मासाज़ करे

उम्मीदवार हैं हर सिम्त आशिक़ों के गिरोह
तेरी निगाह को अल्लाह दिलनवाज़ करे

तेरे करम का सज़ावार तो नहीं 'हस्रत'
अब आगे तेरी ख़ुशी है जो सरफ़राज़ करे

× × × × × ×

हमने किस दिन तिरे कूचे में गुज़ारा न किया
तू ने ऐ शोख़ मगर काम हमारा न किया

एक ही बार हुई वज्हे-गिरफ़्तारिए-दिल
इल्तिफ़ात उनकी निगाहों ने दोबारा न किया

महफ़िले-यार की रह जायेगी आधी रौनक़
नाज़ को उसने अगर अंजुमन-आरा न किया

तानअए-अहबाब सुने सरज़निशे-ख़ल्क सही
हमने क्या-क्या तेरी ख़ातिर से गवारा न किया

जब दिया तुमने रक़ीब को दिया जामे-शराब
भूलकर भी मेरी जानिब को इशारा न किया

रू-ब-रू चश्मे-तसव्वुर के वो हर वक़्त रहे
न सही आँख ने गर उनका नज़ारा न किया

गर यही है सितमे-यार तो हमने 'हस्रत
न किया कुछ भी जो दुनिया से किनारा न किया

× × × × × ×

और तो पास मेरे हिज्र में क्या रक्खा है
इक तेरे दर्द को पहलू में छिपा रक्खा है

दिल से अरबाबे-वफ़ा का है भुलाना मुश्किल
हमने ये उनके तग़ाफ़ुल को सुना रक्खा है

तुमने बाल अपने जो फूलों में बसा रक्खे हैं
शौक़ को और भी दीवाना बना रक्खा है

सख़्त बेदर्द है तासीरे-मुहब्बत कि उन्हें
बिस्तरे-नाज़ पे सोते से जगा रक्खा है

आह, वो याद कि उस याद को होकर मज्बूर
दिले-मायूस ने मुद्दत से भुला रक्खा है

इसका अंजाम भी कुछ सोच लिया है 'हस्रत'
तूने रब्त उनसे जो इस दर्जा बढ़ा रक्खा है

× × × × × ×

तासीरे-बर्के-हुस्न जो उसके सुख़न में थी
इक लर्ज़िशे-ख़फ़ी मेरे सारे बदन में थी

वाँ से निकल के फिर न फ़राग़त हुई नसीब
आसूदगी की जान तेरी अंजुमन में थी

इक रंगे इल्तिफ़ात भी उस बेरुख़ी में था
इक सादगी भी उस निगाहे-सिह्र.फ़न में थी

मुहताजे-बू-ए-इत्र न था जिस्मे-ख़ूबे-यार
ख़ुश्बू-ए-दिलबरी थी जो उस पैरहन में थी

कुछ दिल ही बुझ गया है मेरा वर्ना आजकल
कैफ़ीयते-बहार की शिद्दत चमन में थी

ग़ुर्बत की सुबह में भी नहीं है वो रोशनी
जो रोशनी कि शामे-सवादे-वतन में थी

अच्छा हुआ कि ख़ातिरे-'हस्रत' से हट गयी
हैबत-सी इक जो ख़त्रए-दारो-रसन में थी

× × × × × ×

याद कर वो दिन कि तेरा कोई सौदाई न था
बावजूदे-हुस्न तू आगाहे-रानाई न था

इश्के-रोज़अफ़ज़ूँ ये अपने मुझको हैरानी न थी
जल्वए-रंगीं पे तुझको नाज़े-यक्ताई न था

दीद के क़ाबिल थी मेरे इश्क़ की भी सादगी
जबकि तेरा हुस्न सरगर्मे-ख़ुदआराई न था

क्या हुए वो दिन कि महवे-आर्ज़ू थे हुस्नो-इश्क़
रब्त था दोनों में गो रब्ते-शनासाई न था

तूने 'हस्रत' की अयाँ तह्ज़ीबे-रस्मे-आशिक़ी
इससे पहले एतबारे-शाने-रुस्वाई न था
× × × × × ×

चुपके-चुपके रात-दिन आँसू बहाना याद है
हमको अब तक आशिक़ी का वो ज़माना याद है

बाहज़ाराँ इज़्तिराब ओ सदहज़ाराँ इश्तियाक़
तुझसे वो पहले-पहल दिल का लगाना याद है

बार-बार उठना उसी जानिब निगाहे-शौक़ का
और तेरा ग़ुर्फ़े से वो आँखें लड़ाना याद है

तुझसे कुछ मिलते ही वो बेबाक हो जाना मेरा
और तेरा दाँतों में वो उँगली दबाना याद है

खींच लेना वो मेरा पर्दे का कोना दफ़्अतन्
और दुपट्टे से तेरा वो मुँह का छिपाना याद है

जानकर सोता तुझे वो क़स्दे-पाबोसी मेरा
और तेरा ठुकरा के सर, वो मुस्कुराना याद है

तुझको जब तन्हा कभी पा जाना अज़राहे-लिहाज़
हाले-दिल बातों-ही-बातों में जताना याद है

जब सिवा मेरे तुम्हारा कोई दीवाना न था
सच कहो कुछ तुमको भी वो कारख़ाना याद है

ग़ैर की नज़रों से बचकर सबकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़
वो तेरा चोरी-छिपे रातों को आना याद है

आ गया गर वस्ल की शब भी कहीं ज़िक्रे-फ़िराक़
वो तेरा रो-रो के मुझको भी रुलाना याद है

दोपहर की धूप में मेरे बुलाने के लिए
वो तेरा कोठे पे नंगे पाँव आना याद है

आज तक नज़रों में है वो सोहबते-राज़ो-नियाज़
अपना जाना याद है तेरा बुलाना याद है

मीठी-मीठी छेड़कर बातें निराली प्यार की
ज़िक्र दुश्मन का वो बातों में उड़ाना याद है

देखना मुझको जो बरगश्ता तो सौ-सौ नाज़ से
जब मना लेना तो फिर ख़ुद रूठ जाना याद है

चोरी-चोरी हमसे तुम आकर मिले थे जिस जगह
मुद्दतें गुज़रीं पर अब तक वो ठिकाना याद है

शौक़ में मेंहदी के वो बेदस्तो-पा होना तेरा
और मेरा वो छेड़ना, वो गुदगुदाना याद है

बावजूदे-इद्दआए-इत्तिका 'हस्रत' मुझे
आज तक अहदे-हवस का वो फ़साना याद है

× × × × × ×

भुलाता लाख हूँ लेकिन बराबर याद आते हैं
इलाही तर्के-उल्फ़त पर वो क्यूँकर याद आते हैं

न छेड़ ऐ हमनशीं कैफ़ीयते-सहबा के अफ़्साने
शराबे-बेख़ुदी के मुझको साग़र याद आते हैं

रहा करते हैं क़ैदे-होश में अय वाए-नाकामी
वो दस्ते-ख़ुदफ़रामोशी के चक्कर याद आते हैं

नहीं आती तो याद उनकी महीनों तक नहीं आती
मगर जब याद आते हैं तो अक्सर याद आते हैं

हक़ीक़त खुल गयी 'हस्रत' तेरे तर्के-मुहब्बत की
तुझे तो अब वो पहले से भी बढ़कर याद आते हैं

× × × × × ×

इस तग़ाफ़ुल पर भी करते हैं तुझी को याद हम
कितने हैं मज्बूर देख ओ बानिए-बेदाद हम

जाते हैं परताबगढ़ आख़िर इलाहाबाद से
जिस तरह झाँसी से आये थे इलाहाबाद हम *

क़ैदे-तन्हाई में भी तन्हा नहीं अय यादे-यार
आज ये उक़्दा खुला हम पर कि हैं आज़ाद हम

मार डाला हमको 'हस्रत' यूँ ही जब उसने कहा
मानना होगा तुझे जो करते हैं इर्शाद हम

× × × × × ×

* अँग्रेज़ों के ख़िलाफ़ सक्रिय आन्दोलनों के कारण हस्रत साहब को झाँसी जेल में क़ैद किया गया। वहाँ से इलाहाबाद (नैनी-जेल) में स्थानान्तरित किये गये, फिर इलाहाबाद से परताबगढ़(प्रतापगढ़) की ज़िला-जेल में स्थानान्तरित किये गये। मार्च १९१७ में पहली बार प्रतापगढ़-जेल में हस्रत मोहानी के रूप कोई राजनीतिक क़ैदी आया था, जो स्वतन्त्रता-संग्राम सेनानी था और जर्नलिस्ट भी था।

उस बुत के पुजारी हैं मुसलमान हज़ारों
बिगड़े हैं इसी कुफ़्र में ईमान हज़ारों

दुनिया है कि उनके रुख़ो-गेसू पे मिटी है
हैरान हज़ारों हैं परेशान हज़ारों

तन्हाई में भी तेरे तसव्वुर की बदौलत
दिल-बस्तगीए-ग़म के हैं सामान हज़ारों

ऐ शौक़ मेरी पस्तिए-हिम्मत का बुरा हो
मुश्किल हुए जो काम थे आसान हज़ारों

आँखों ने तुझे देख लिया अब उन्हें क्या ग़म
हालाँकि अभी दिल को हैं अरमान हज़ारों

इक बार था सर गर्दने-'हस्रत' पे रहेंगे
क़ातिल तेरी शम्शीर के एहसान हज़ारों

× × × × × ×

है मश्क़े-सुख़न जारी, चक्की की मशक़्क़त भी
इक तुर्फ़ा-तमाशा है 'हस्रत' की तबीअत भी

जो चाहो सज़ा दे लो, तुम और भी खुल खेलो
पर हम से क़सम ले लो की हो जो शिकायत भी

दिल बसकि है दीवाना उस हुस्ने-गुलाबी का
रंगीं है इसी रू से शायद ग़मे-फ़ुर्क़त भी

ख़ुद इश्क़ की गुस्ताख़ी सब तुझको सिखा लेगी
अय हुस्ने-हयापरवर शोख़ी भी, शरारत भी

बरसात के आते ही तौबा न रही बाक़ी
बादल जो नज़र आये बदली मेरी नीयत भी

अय शौक़ की बेबाकी वो क्या तेरी ख़्वाहिश थी
जिस पर उन्हें ग़ुस्सा है, इन्कार भी, हैरत भी

हर चन्द है दिल शैदा हुर्रीयते-कामिल का
मंज़ूरे-दुआ लेकिन है क़ैदे-मुहब्बत भी

हैं 'शादो-सफ़ी' शायर या 'शौक़ो-वफ़ा' 'हस्रत'
फिर 'ज़ामिनो-महशर' हैं 'इक़्बाल' भी 'वह्शत' भी *

× × × × × ×

* शायरों के नाम हैं- 'शाद', 'सफ़ी', 'शौक़', 'वफ़ा', 'हस्रत', 'ज़ामिन', 'महशर', 'इक़्बाल', 'वह्शत'।

मुतफ़र्रिक अश्आर

उनकी उल्फ़त का यक़ीं हो, उनके आने की उमीद
हों ये दोनों सूरतें तब है बहारे-इंतिज़ार

उनको याँ वादे पे आ लेने दे अय अब्रे-बहार
जिस क़दर चाहना फिर बाद में बरसा करना

ज़ब्ते-ख़्वाहिश पे हो नाज़ाँ मगर अय हज़्रते-दिल
क्या हो सोते जो कहीं उनको अकेला देखो

पूछते हैं वो जाँ निसारों को
तुम भी 'हस्रत' उठो सलाम करो

तुम्हारे मुँह से ये तक़रार भी पुरलुत्फ़ ठहरेगी
वही बातें सही जो कर चुके वो बारहा मुझसे

समझ में कुछ नहीं आता ये क्या अंदाज़ है तेरा
कभी हट बैठना मुझसे, कभी खुल खेलना मुझसे

शौक़ को मज्बूर होकर छोड़ देना ही पड़ा
जब कलाई नाज़ुकी से थरथराई आपकी

मुहब्बत भी अजब शै है कि बावस्फ़े-शनासाई
नहीं होती मुख़ातिब वो निगाहे-आश्ना मुझसे

आईने में वो देख रहे थे बहारे-हुस्न
आया मेरा ख़याल तो शरमा के रह गये

गराँ गुज़रे न हर्फ़े–आर्ज़ू उस तब्‌अे–नाज़ुक पर
निगाहे–शौक़ इस मफ़्हूमे–रंगीं को अदा कर दे

बज़्मे–अग़्यार में हर चन्द वो बेगाना रहे
हाथ आहिस्ता मेरा फिर दबाकर छोड़ा

फ़ातिहा पढ़ने चले मर्कदे–'हस्रत' पे जो वो
पहले किस नाज़ से रो–रो के सँवारे गेसू

जिसमें दो हर्फ़ कभी उसने लिखे थे 'हस्रत'
हमने सौ बार वो आँखों से लगाया काग़ज़

हमसे हर चन्द वो ज़ाहिर में ख़फ़ा हैं लेकिन
कोशिशे–पुरशिसे हालात चली जाती है

मुझे न इसकी ख़बर है न ख़ुद उन्हें है ख़याल
कुछ इस तरह से मुहब्बत बढ़ायी जाती है

तुझमें कुछ बात है ऐसी जो किसी में न मिली
यूँ तो औरों से भी दिल हमने लगा रक्खा है

कहीं वो आके मिटा दें न इंतिज़ार का लुत्फ़
कहीं क़ुबूल न हो जाये इल्तिज़ा मेरी

बाम पर आने लगे वो, सामना होने लगा
अब तो इज़्हारे–मुहब्बत बरमला होने लगा

सीखी थी जो आग़ाज़े–मुहब्बत में क़लम ने
बाक़ी है वो रंगीनिए–तह्‌रीर अभी तक

तग़ाफ़ुल इसको कहते हैं कि उसने
मुझे देखा न मह्‌फ़िल में अदू को